GAVESHNA 1965 G.K.V.

गवेषणा

'संगोष्ठी विशेषाङ्क'

१९६५

गवेषणा

[केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल की अर्द्ध वार्षिक शोध-पत्रिका]

संगोष्ठी विशेषांक

सम्पादक
बालकृष्ण राव, व्रजेश्वर वर्मा
सह-सम्पादक
न० वी० राजगोपालन
वी० रा० जगन्नाथन

प्रकाशक
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

वर्ष ३ मार्च १९६५ अंक ५

प्रकाशक
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक
जगदीश प्रसाद, एम० ए०
दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा

दिनांक २६, २७ और २८, नवम्बर, सन् १९६४
को सम्पन्न
संगोष्ठी का विस्तृत विवरण

विषय | साहित्य में बाह्य प्रभाव :
भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

आमुख

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के तत्त्वावधान में दि० २६, २७, २८ नवम्बर, १९६४ को एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी का विचार-विषय था 'साहित्य में बाह्य प्रभाव—भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में।' संस्थान के निदेशक डा० व्रजेश्वर वर्मा ने वैचारिक पृष्ठभूमि के तौर पर विषय के चार पहलू प्रस्तावित किये थे और आगत विद्वानों को उन्हें सामने रखकर विचार व्यक्त करने का सुझाव दिया था। विषय के वे चार पक्ष इस प्रकार हैं—

साहित्य पर राजनीतिक, सामाजिक तथा अर्थिक सिद्धान्तों का प्रभाव; दार्शनिक, धार्मिक सिद्धांतों का प्रभाव; विदेशी साहित्य का सांस्कृतिक भावबोध सम्बन्धी प्रभाव; और विदेशी साहित्य का भाषा-शैली और अभिव्यक्ति सम्बन्धी प्रभाव।

केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव ने बाह्य प्रभाव की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि केवल विदेशी प्रभाव ही बाह्य प्रभाव नहीं है, बल्कि जो प्रभाव आंतरिक सौंदर्य-बोध या आनन्द की प्राप्ति के लिए सहज प्रेरणा के रूप में नहीं आते और जिनके पीछे यश-प्राप्ति आदि किसी भी प्रकार का कोई प्रचारात्मक उद्देश्य निहित रहता है, वे सब बाह्य ही हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि श्री राव ने 'बाह्य' के इस व्यापक अर्थ का उल्लेख किया था, परन्तु अधिकतर विद्वानों ने उसे सीमित अर्थ में ही लिया। डा० वर्मा की विचारभूमि में भारतीय भाषा-साहित्यों का एक दूसरे को प्रभावित करना बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत नहीं था, परन्तु डा० आर्येन्द्र शर्मा ने हिन्दी पर बंगला के प्रभाव तथा डा० गिडुग वेंकट सीतापति और डा० आरुमुगम ने क्रमशः तेलुगु और तमिल पर संस्कृत भाषा तथा आर्य संस्कृति के प्रभाव की विस्तार-पूर्वक चर्चा की।

विद्वानों ने प्रभाव शब्द का अर्थ भी निश्चित करने का यत्न किया। परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक मतभेद नहीं दिखायी दिया। प्रभाव उसी वस्तु का पड़ता है जो अपनी नहीं है—जो प्रकृत्या अपने से भिन्न होती है। इस कारण

प्रभाव ग्रहण करने में यह कठिनाई रहती है कि जो बाहर की वस्तु हमारे पास आये उसे हम सहजतः अपना नहीं बना पाते, उससे हमारा निजत्व ग्रंखडित नहीं रहता। ऐसे प्रभाव से निश्चय ही सावधान रहना आवश्यक है। परन्तु आज हम जिस विश्व में रह रहे है वह संचार और परिवहन के वेगवान साधनों के कारण न केवल भौगोलिक दृष्टि से छोटा होता जा रहा है, वरन वैचारिक स्तर पर भी उसमें समानता और प्रायः एकरूपता आती जा रही है। ज्ञान-विज्ञान की कोई नवीन उपलब्धि अविलम्ब एक देश से दूसरे देशों में फैल जाती है। इस स्थिति में संकुचित राष्ट्रवाद से मुक्त हो कर प्रगतिशील प्रवृतियों को सहज भाव से ग्रहण करना उचित है, जैसे श्री विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि हमें बन्द कमरे में नहीं रहना है, वृक्ष का विकास तूफानों के बीच खुली हवा में ही हो सकता है, बाहर की हवाओं से डरना आंतरिक कमज़ोरी का लक्षण है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसी विचारधारा के अनुरूप स्वीकार किया कि आज के युग में सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक और मनोविज्ञानिक क्षेत्रों में प्रतिपादित नवीन योरुपीय वाद और सिद्धांत किसी भी देश के लिए बाह्य नहीं रह गये हैं, वे अन्तर-राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं, उन पर किसी देश विशेष का एकाधिकार नहीं है। अतः उन्हें बाह्य प्रभाव मानना उचित नहीं होगा।

दूसरी ओर, कुछ विद्वानों ने इन्हीं को बाह्य प्रभाव मान कर उनसे बचे रहने की सलाह दी। उनकी मान्यता के अनुसार बाह्य सम्पर्क अनिवार्य तो है, उससे विमुख रहना स्वस्थ लक्षण भी नहीं कहा जा सकता; परन्तु बाह्य विचारधाराओं को उचित मात्रा में ही स्वीकार करना श्रेयस्कर है। अस्तित्ववाद और बीटनिक जैसे सिद्धांतों और प्रवृत्तियों को जो हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से मेल नहीं खातीं, अनियंत्रित रूप में ग्रहण कर लेना घातक है। अतः यह आवश्यक है कि हम हानिकारक और अस्वस्थ विदेशी प्रभावों से बचे रहें और प्रत्येक बाह्य प्रभाव के प्रति सजग रहें; कहीं ऐसा न हो कि बाह्य प्रभावों की अनियंत्रित मात्रा हमारी संस्कृति को ही नष्ट कर दे। इस विचार-धारा को प्रकट करते हुए कहा गया कि हमें केवल उन्हीं प्रभावों को ग्रहण करना चहिए जो हमारे विकास में सहायक हों और जिनको ग्रहण किये बिना हमारी प्रगति रुकती है। प्रभाव ग्रहण करने के पहले हमें अपनी सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह बात अनेक प्रकार से विभिन्न शैलियों में कही गयी। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'राष्ट्रीयता', डा० राम-विलास शर्मा ने 'जातीयता', श्री आरिगपूड़ि ने 'परम्परा', डा० गोपाल शर्मा ने

'जीवन की आवश्यकताएँ', श्री अनिल ने 'स्व' या 'भारतीय स्वत्त्व', श्री एहतिशाम हुसैन ने 'चेतना' और कुछ अन्य विद्वानों ने 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर केवल अनुकूल प्रभावों को ही स्वीकार करना वाँछनीय बताया, अन्य सभी प्रभाव न तो साहित्य के लिए लाभदायक हैं और न समाज के लिए कल्याणकर। सभी विद्वानों ने कोरे अनुसरण को अवांछनीय बताया। प्रभाव के आत्मसात हो जाने की वांछनीयता सभी ने स्वीकार की, ऐसा होने पर वह बाह्य नहीं रह सकता और तभी वह नव-सर्जन में प्रेरणा बन सकता है। डा० जगदीश गुप्त ने प्रभाव ग्रहण की दिशा और प्रक्रिया पर बड़े विस्तार से गम्भीर चर्चा की और कहा कि प्रभाव एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही गृहीत होता है और जब प्रभाव पूर्णतया अपना लिया जाता है तब वह स्वयं प्रभावित करने लगता है। कुछ विद्वानों ने साहित्य की भिन्न-भिन्न विधाओं और भाषाओं के विविध पक्षों को लेकर प्रभाव की चर्चा की।

डा० सुरेश अवस्थी ने नाट्य साहित्य पर प्रभाव की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि हम नाटक के क्षेत्र में जिन पुरानी परम्पराओं से उन्हें अभिनय-अयोग्य समझ कर दूर हो रहे हैं, उन्नत विदेशी साहित्य उन्हीं से प्रभावित हो रहे हैं। हमें अपनी परम्पराओं को क़ायम रखते हुए विकास करना है। विदेशी नाट्य कला में जिस यथार्थवादी दृष्टिकोण से हम प्रभावित हो रहे हैं, वे अब विदेशों में भी उतने सफल नहीं माने जाते। डा० विनयमोहन शर्मा, डा० हरिशंकर शर्मा, डा० आर्येन्द्र शर्मा और श्री ब्रजभूषण लाल शर्मा ने हिन्दी व्याकरण, शब्द-समूह, काव्यशैली आदि स्तरों पर संस्कृत, अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रभाव पर महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये।

बाह्य प्रभाव में स्वीकृति के साथ आंतरिक संघर्ष की स्थिति की भी कई विद्वानों ने चर्चा की। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इसे अन्तर और बाह्य के संघात के नाम से अभिहित किया; डा० रामविलास शर्मा ने इसी को रूढ़िवादिता और प्रगतिशील चेतना का संघर्ष कहा। जहाँ विरोधी या विपरीत सांस्कृतिक तत्त्व निकट संपर्क में आते हैं और उनमें प्रभाव की प्रक्रिया आरम्भ होती है, वहाँ उनमें संघर्ष होता है। इसी विरोध के आधार पर कोई संस्कृति या साहित्य अपने पर पड़े हानिकार या अस्वस्थ प्रभावों को दूर करता है।

कुछ विद्वानों ने भारतीय भाषाओं और साहित्यों के संदर्भ में प्रभाव की चर्चा की। श्री एहतिशाम हुसैन ने उर्दू पर बाह्य प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया। १८ वीं-१९ वीं शताब्दी में उर्दू में लिखे गये वैज्ञानिक ग्रंथों और अनु-

वादों की चर्चा करते हुए श्री हुसैन ने बाह्य और प्रभाव दोनों शब्दों की अर्थ-सीमा को स्पष्ट किया। डा० गिडुगु वेंकट सीतापति ने तेलुगु पर और डा० आरमुगम ने तमिल पर संस्कृत प्रभाव की चर्चा की। डा० विश्वनाथ अय्यर ने मलयालम साहित्य पर राजनीति के प्रभाव की व्याख्या की। अनेक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के संदर्भ में बाह्य प्रभावों की विस्तारपूर्वक चर्चा की। आधुनिक हिन्दी की विविध विधाओं पर प्रभावों की स्थिति, उनकी वांछनीयता, हिन्दी साहित्य की प्रगति और उसके भविष्य के अनेक पक्षों पर विशद रूप से विचार किया गया।

संगोष्ठी की सफलता पर निर्णय देना हमारा काम नहीं है। हम तो श्री हुसैन के शब्दों में इतना ही कह कर सन्तोष करते हैं कि इस संगोष्ठी ने आधुनिक भारतीय साहित्य में प्रभाव की स्थिति को स्पष्ट करने के साथ-साथ इस विषय पर ऐसी विपुल सामग्री एकत्र कर ली है जो अन्यथा दुलर्भ ही थी।

संगोष्ठी में श्री देशपांडे 'अनिल' ने भी भाग लिया था। किन्तु कुछ संयोगवश उनके वक्तव्य का पट्टिकाभिलेख कहीं गुम हो गया, कार्य व्यस्तता के कारण हमारी प्रार्थना पर भी वे उसका आलेख भेजने में असमर्थ रहे। हमें खेद है कि संगोष्ठी का एक महत्वपूर्ण अंश इस अंक में प्रकाशित होने से रह गया है। संगोष्ठी में भाग लेने वाले अन्य कई विद्वानों के वक्तव्य बहुत कठिनाइयों के बाद शब्दशः टेप-रिकार्डर से उतारे जा सके। इसी कारण यह विवरण इतने विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। मौखिक वक्तव्यों को लिखित रूप देना बहुत कठिन कार्य है, ऐसा करने में बक्ता के भाव को सही ढंग से प्रस्तुत करने में संदेह रह जाना स्वाभाविक है। अतः हमने वक्ताओं की भाषाशैली को यथासम्भव सुरक्षित रखा है। संशोधन केवल उसे प्रकाशन योग्य बनाने के लिए किया है। इस कारण वक्तव्यों में ऐसे लम्बे और अनगढ़ वाक्य-विन्यास भी रह गये हैं जो वक्तव्यों के मूलतः लिखित रूप में प्रस्तुत किये जाने पर नहीं रहते।

डा० प्रभाकर माचवे संगोष्ठी में उपस्थित नहीं हो सके, तथापि उन्होंने अपने विचार आलेख रूप में भेजने की कृपा की थी। उसे हम विवरण के अन्त में दे रहे हैं। इसी प्रकार डा० मुल्कराज आनन्द ने विदेश यात्रा पर जाने के पूर्व हमें एक पत्र में अपना मन्तव्य लिख भेजा था। हम उसे भी दे रहे हैं।

तीव्र गति से विकास करते हुए भारतीय साहित्य को अन्तर-राष्ट्रीय परिवेश में अपनी स्थिति प्राप्त करने की चुनौती का सामना करना है। बाह्य और

अन्तर का संघर्ष अनेक स्तरों पर उसके सम्मुख ज्वलन्त प्रश्न के रूप में उपस्थित है। इस अवसर पर यह महसूस करना कि प्रभाव-ग्रहण विकासशील साहित्यों का अनिवार्य धर्म है और यह भी कि निर्बाध प्रभाव को नियंत्रित करना भी आवश्यक है, उचित दिशा में प्रगति करने में सहायक होगा। यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि भारत के विभिन्न भाषा साहित्यों के विद्वानों ने एक मंच पर एकत्र होकर इस प्रश्न के विविध पक्षों पर गम्भीर विचार-विमर्श किया और उस पर व्यावहारिक चिन्तन को प्रेरणा और गति प्रदान की।

हमें विश्वास है कि 'गवेषणा' के इस संगोष्ठी विशेषांक का विद्वज्जगत में आदर होगा।

—सम्पादक

संगोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वान

डा० व्रजेश्वर वर्मा

वैचारिक विषय : पूर्वाभास

किसी भी प्राकृतिक अथवा सामाजिक जीवांग का विकास अन्तर और बाह्य के संघात से ही होता है। प्रायः अन्तर और बाह्य का पृथक्करण भी सम्भव नहीं हो पाता। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण साहित्य भी एक जीवांग कहा जा सकता है। उसकी रचना जिस पद्धति से होती है उसमें बाह्य उतनी ही मात्रा में अभिव्यक्ति पाता है जितनी मात्रा में रचनाकार के अन्तर ने उसे आत्मसात् कर लिया हो, इस बाह्य में समाज का विविधरूप अनुभव, और विविध विषयों—काव्य और शास्त्रों का ज्ञान सम्मिलित है।

साहित्य मूलतः रचनाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होता है, परन्तु रचनाकार का व्यक्तित्व बाह्य अर्थात् सामाजिक अनुभव और सामाजिक ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति को जितनी अधिक मात्रा में आत्मसात् कर अपना विस्तार कर सकता है, उतनी ही महान् रचना करने में वह सफल होता है। इसके अभाव में रचना सुन्दर भले ही हो, महान् नहीं बन पाती। विश्व का महान् साहित्य इसका साक्षी है।

रचनाकार के ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अनुभव की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। वह समस्त पूर्ववर्ती सम-सामयिक तथा देशी और विदेशी समाजशास्त्रीय, धार्मिक, दार्शनिक आदि सिद्धान्तों से सम्बन्धित वाद-विवाद को अपनी रुचि और मान्यता के अनुसार अपनी रचना में अभिव्यक्ति देता है। विश्व के अनेकानेक शास्त्रीय सिद्धान्त साहित्य के माध्यम से प्रेषित किये जाते रहे हैं और आज भी प्रेषित किये जा रहे हैं। अनेक महान् विचारकों

ने अपनाये हुए या स्वयं अपने सिद्धान्तों के द्वारा साहित्य को सुन्दरता के साथ-साथ गरिमा और महनीयता प्रदान की है। आरम्भ में अपरिचित, अतः अमान्य और विरुद्ध लगने वाले सिद्धान्त भी प्रायः साहित्य में अभिव्यक्ति पाकर मान्य और स्वीकृत हुए हैं तथा सामाजिक भावबोध के अंग बने हैं।

समाज यदि जीवन का ही एक अंग है तो यह कैसे सम्भव है कि जीवन को विकसित और उन्नत करने की भावना से प्रतिपादित दार्शनिक, समाजशास्त्रीय या वैज्ञानिक सिद्धान्तों से साहित्य अछूता रहे ? केवल आदिम मानवीय मनोवेगों और संवेगों के चित्रण तक सीमित रहने वाला साहित्य लोक-साहित्य के सौन्दर्य तक भले ही पहुँच सके, किसी जीवन-दर्शन या सामाजिक विचार-भूमि के अभाव में वह जीवन की व्याख्या नहीं कर सकता। विश्व का जितना श्रेष्ठ साहित्य है उसके पीछे निश्चित ही कोई न कोई पुष्ट दार्शनिक और सामाजिक विचार-भूमि अवश्य पायी जाती है।

परन्तु इस से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के सौन्दर्य-बोध से होता है। यद्यपि यह एक आदिम प्रवृत्ति है, परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसके क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता आया है। ज्यों-ज्यों अनुभव और ज्ञान की परिधियाँ बढ़ती गयी हैं, त्यों-त्यों उसके आलम्बनों में भी वृद्धि होती गई है। सौन्दर्यबोध के आलम्बनों की वृद्धि और उसके संस्कार का पूर्ण श्रेय साहित्य तथा अन्य कलाकृतियों को ही है। कठिन और विभाजित करने वाली परिस्थितियाँ, गरिष्ठ और बुद्धि को चुनौती देने वाले सिद्धान्तों और अपरिचित तथा अजनबी अनुभवों को साहित्य के माध्यम से ही सरल, आकर्षक, सहज, सरस, आत्मीय और अभिन्न बनाया गया है। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब पहले साहित्यकार उन्हें अपने भावलोक और संवेदना का अंतिम अंग बन चुका है। इसके अभाव में साहित्यकार की संवेदना और उसकी विषयवस्तु में एक बड़ा अन्तराल रह जाता है और यह प्रकट हो जाता है कि वह उधार ली हुई वस्तु को लादे हुए है। जहाँ साहित्य पर इस प्रकार का लदाव हुआ, चाहे वह लदाव सिद्धान्तों का हो या अपने सामाजिक परिवेश के बाहर के अनुभव का, वहीं साहित्य स्वधर्म से च्युत हो जाता है। वह कान्तासम्मित उपदेश नहीं बन पाता।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि धर्म और दर्शन के संघात से जहाँ एक ओर अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हुई, वहाँ दूसरी ओर सिद्धान्तवाद और उपदेशवाद के बोझ से लदी हुई ऐसी असंख्य रचनाएँ भी हुईं जिन्हें साहित्य की कोटि में रखना कठिन है, साहित्य के

इतिहास की दृष्टि से भले ही उनकी गणना कर ली जाती हो। आधुनिक काल में यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के अनुक्रम में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, समाजवाद, साम्यवाद, नवमानवतावाद आदि जो अनेक सिद्धान्त और जीवन-दर्शन विकसित हुए, उनके संघात से विश्वसाहित्य का कुल मिलाकर उपकार ही हुआ है। इधर, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से आक्रान्त तथा मध्ययुगीन सामाजिक रूढ़ियों में ग्रस्त पराधीन देश स्वतन्त्रता, समता, न्याय और मानवता की भावनाओं से आन्दोलित हो कर साहित्य के लिए जो नवीन भावनाएँ और संवेदनाएँ उन्मुक्त कर सके उनसे साहित्य निःसंदेह अधिक सार्थक और सम्पन्न बना है। भारतीय साहित्य के नव युग के निर्माताओं—राममोहनराय, दयानन्द, केशवचन्द्र सेन, सर सैय्यद अहमद, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, तिलक, गोखले, लाजपतराय, गाँधी, रवीन्द्र, नेहरू आदि ने जो प्रेरणाएँ दीं उनके अभाव में वह मध्ययुगीन कुंठाओं में ही ग्रस्त रह जाता।

भारतीय नव युग के निर्माताओं ने स्वयं हमारे प्राचीन वाङ्मय तथा पश्चिम के विचारकों से प्रेरणा और विचार-दर्शन ग्रहण कर नवीन बौद्धिक चेतना को जन्म दिया था। आधुनिक युग के साहित्य का पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि उसमें इस नवीन बौद्धिक चेतना से समन्वित श्रेष्ठ साहित्य की भी रचना हुई तथा ऐसी भी असंख्य रचनाएँ हुईं जिनमें साहित्यिक गुण अत्यन्त न्यून मात्रा में हैं और अनुकृत बौद्धिकता और प्रचारात्मकता का बोझ कहीं अधिक है। साहित्य में बौद्धिकता केवल अवांछनीय नहीं है, बल्कि उसकी शक्तिमत्ता और प्रयोजनशीलता के लिए अभिनन्दनीय है, परन्तु शर्त यही है कि बौद्धिकता मानव-संवेदना से संपृक्त हो। प्रचारात्मकता भी अपने आप में निन्द्य नहीं है, यदि उसमें साहित्यकार अपने भावकों की संवेदना को उद्‌बुद्ध कर सके और उसका सिद्धान्तवाद आग्रह और आरोप के रूप में प्रकट हो कर न रह जाये। प्रचारात्मक साहित्य का आग्रहपूर्ण भावावेश प्रायः भावकों में विपरीत भाव जगाने का कारण बनता है। हमारा बहुत-सा आधुनिक लेखन समाज-सुधार, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, गाँधीवाद और समाजवाद-साम्यवाद सम्बन्धी प्रचार से प्रभावित हो कर कोरा उपदेश, चीख़-पुकार और नारेबाज़ी बन कर रह गया।

परन्तु यह विचारणीय है कि साहित्य को साहित्यिक स्तर से गिराने वाला या बाह्य प्रभाव लेखकों और उनकी कृतियों के वर्ग-विशेष और उनका अनुकरण करने वाले सस्ते यश के अभिलाषियों के लिए भले ही अहितकर हो,

साहित्यिक मूल्यांकन के क्षेत्र में भले ही उससे कुछ समय के लिए भ्रमात्मक विचारों का प्रचार हो जाये, अन्ततः नयी दिशाओं की उपलब्धि और अपनी परिधि के विषय में क्या उससे साहित्य का हित नहीं होता ?

जिस प्रकार मध्ययुग तक वही साहित्य श्रेष्ठ बन सका जिसके पीछे कोई पुष्ट धार्मिक-दार्शनिक विचार-भूमि थी, उसी प्रकार आधुनिक युग में भी नवीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों और नवीन जीवन मूल्यों के साहित्यिक संस्कार द्वारा ही साहित्य और कलाओं को गौरव मिला है।

यहीं पर सम-सामयिक भारतीय साहित्य और विदेशी प्रभाव का प्रश्न हमारे सामने आ जाता है। सम-सामयिक विश्व में विचारधारा, सामाजिक जीवन को आन्दोलित करने वाले सिद्धान्तों और वादों तथा तज्जन्य सामाजिक भावना और संवेदना की दृष्टि से इतनी अधिक अन्विति आ गयी है और वह एक ऐसी इकाई बन गया है कि उसे एकदेशीयता या राष्ट्रीयट्रा के आधार पर खण्डित करने का प्रयास प्रायः संकीर्णता और संकुचित मनोवृत्ति का आभास देता है। तो भी, प्रत्येक परिवार, गाँव, नगर, जनपद, प्रदेश और देश की अपनी-अपनी विशेषताएँ और पहचानें होती हैं और वे कृतिकार के सृजन में अनायास प्रतिबिम्बित हो जाती हैं—कभी-कभी उन्हें प्रमुख रूप में प्रकट करना भी कृतिकार का उद्देश्य होता है; परन्तु यदि उनसे बाहर जाना निषिद्ध मान-कर साहित्य-सृजन उन्हीं में सीमित रखने का प्रण कर लिया जाये तो निश्चय ही साहित्य का दम घुट जायेगा और वह लोक-साहित्य बन कर रह जायेगा।

मध्ययुग का भारतीय भक्ति आन्दोलन यद्यपि प्राचीन भारतीय परम्परा का ही जनव्यापी नवोन्मेष था, परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसे शक्ति संकलित करने और नवीन भावावेश से गतिशील और रचनात्मक बनाने में विदेशी सम्पर्क की अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिक्रिया से उसे निश्चित ही अतीव सहायता मिली थी। उसके रूप-निर्माण में भी विदेशी तत्वों का योग प्रमाणित किया जा सकता है।

आधुनिक काल के आरंभ में भारतीय साहित्य को युगसापेक्ष नया रूप प्राप्त करने में पश्चिमी विचारधारा और साहित्य से जो प्रेरणा और सहायता मिली है, उसका संकेत किया जा चुका है। कविता, कथा और गद्य की अनेकानेक नवीन विधाओं की विचारभूमि, भावना, संवेदना, भाषा-शैली और अभिव्यक्ति के सभी पक्षों का पश्चिम के साथ घनिष्ट सम्पर्क हो गया है। यहाँ तक कि हम इसे विदेशी प्रभाव नहीं मानते। वास्तव में कृति को सदैव प्रवाभजन्य कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि बाह्य जब अंतर में लीन हो कर

हमारी संवेदना का अभिन्न अंग बन जाता है, तब उसे प्रभाव कहना हीनता का आरोप जान पड़ता है। परन्तु हमें स्मरण है कि आधुनिक युग के आरंभिक दिनों में नयी शैली में नयी भावना व्यक्त करने वाले साहित्यकारों को परम्परा-विरोधी, भारतीयता-विरोधी प्रभावों में बह जाने वाले संस्कारभ्रष्ट आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया था। आज उस भारतीय साहित्य की सौन्दर्य-सुषमा पर मुग्ध हमारे अनेक मान्य आलोचक उसकी भारतीयता और राष्ट्रीयता की ज़ोरदार वकालत करते देखे जाते हैं। नयापन अधिकतर लोगों को बड़ी तेज़ी से चौंका देता है, परन्तु जब वह नया नया नहीं रह जाता तब उसी के प्रति गहरी ममता पैदा हो जाती है।

बाह्य प्रभाव और उसकी वांछनीयता-अवांछनीयता की बात आज के संदर्भ में वस्तुतः सम-सामयिक साहित्य और उसकी प्रवृतियों और भावी संभावनाओं के विषय में उठायी जाती है। कहा जाता है कि आज के साहित्य में सिद्धांत, सांस्कृतिक भावबोध, भाषा-शैली और अभिव्यंजना— सभी पक्षों में यूरोपीय-अमरीकी प्रभाव इस मात्रा में समाविष्ट हो रहा है कि उसकी प्रेषणीयता अत्यंत सीमित होती जा रही है और वह सौन्दर्यशास्त्र के जाने-माने मानदंडों की पकड़ में नहीं आ पाता। नवीन भावना के सम-सामयिक साहित्य पर, जिसे नव लेखन भी कहा जाता है, प्रायः यह दोषारोपण है कि उस पर अपरिचित और अल्प-परिचित आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक सिद्धांतों का इतना अधिक बोझ लादा जा रहा है कि बौद्धिकता ने साहित्य की आत्मा को दबा कर उसे समाप्तप्राय कर दिया है; उसमें यूरोपीय-अमरीकी संस्कृति से आक्रांत भावबोध ऐसा अजनबी लगता है कि लेखक और उसके समानधर्मा अन्य लेखकों के अलावा कोई उसे ग्रहण ही नहीं कर पाता, सामान्य सौन्दर्यबोध से उसका कोई नाता ही नहीं जान पड़ता ; उसकी भाषा पर अँग्रेज़ी इतनी अधिक छा गयी है कि मुहावरा और वाक्य-विन्यास ही नहीं, शब्दावली भी और वह भी प्रायः रोमन लिपि में, भाषा के प्रकृत स्वरूप को जैसे चुनौती दे रही है ; उसकी शैली सर्वथा अपरिचित और अनगढ़-बेजोड़ है जिससे साहित्यिकता पनाह माँगती है, विविध 'शास्त्रों' की पारिभाषिक शब्दावली तक का निःसंकोच और अनुपातहीन प्रयोग हो रहा है, आदि आदि।

यदि ये आरोप सही हैं तो प्रश्न यह उठता है कि क्या यह समस्या सिद्धांतवाद, बुद्धिवाद, विदेशी संस्कृति से प्रभावित अनुकृत भावबोध और विदेशी साहित्य की विषयवस्तु, संवेदना, भाषा-शैली और अभिव्यक्ति के बाह्य प्रभाव की है अथवा इस बात की कि साहित्यकार सिद्धान्तवाद, विदेशी संस्कृति

और विदेशी साहित्य के सम्पर्क को पूर्णतया आत्मसात् किए बिना केवल अनुकरणात्मक लेखन में प्रवृत्त हो जाते हैं? कदाचित् समस्या यदि है तो दूसरे प्रकार की है। 'यदि' इसलिए, कि यह सम्भव है कि जिन्हें हम परम्परा, परिवेश और अपनी जानकारी के आधार पर शाश्वत साहित्यिक मानदंड मान बैठे हैं, कहीं उन्हीं में कोई त्रुटि न हो और हमने भावबोध की जो परिधि बना रखी है कहीं उसी का विस्तार करना आवश्यक न हो गया हो। प्रत्येक संक्रांति-काल में ऐसा होना सर्वथा सम्भाव्य है। साहित्य और संस्कृति के साथ जब भी नवीन और अपरिचित का संघात होता है, तभी ऐसी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। परन्तु समस्याओं का समाधान इस पूर्वधारणा के आधार पर ढूँढ़ना कि साहित्यशास्त्र और वह भी 'हमारे' साहित्यशास्त्र का ही नियंत्रण रहना वांछनीय है और साहित्य का उपजीव्य वही होना चाहिए जो तथाकथित 'हमारी' संस्कृति द्वारा समर्थित है तो हमारे साहित्य का क्षितिज बहुत संकुचित और विसंवाही बन कर रह जायेगा।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम बाह्य प्रभावों के ग्रहण पर आलोचक और शंकालु दृष्टि ही न डालें। निश्चय ही जीवन को प्रभावित करने वाली देशी-विदेशी सभी प्रकार की सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों का निर्मम परीक्षण करना हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह परीक्षण सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही समीचीन है, इस सैद्धांतिक स्तर पर नहीं कि साहित्य में बाह्य प्रभाव अवांछनीय हैं, उन्हें साहित्य से बाहर ही रखना श्रेयस्कर है। कुछ ऐसे ही तर्क तथाकथित 'प्रगतिशील' साहित्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के समावेश के विरुद्ध दिये गये थे और अब नव लेखन में अस्तित्ववादी, नवीन क्षणवादी आदि दार्शनिक विचारधारा के विरोध में दिये जाते हैं। कदाचित् साहित्यिक स्तर पर इसमें केवल यही विचारणीय है कि साहित्यकार गृहीत सिद्धांतवाद या अन्य प्रकार के बाह्य प्रभावों को कहाँ तक आत्मसात् कर सका है, कहाँ तक विचार, बुद्धि और व्यवहार का अर्जन उसने अपने सौन्दर्यबोध और संवेदना का अंग बना पाया है।

वस्तुतः देशी और विदेशी तथा विविध ज्ञान-विज्ञान और अनुभव, कुछ भी साहित्य के बाहर नहीं है। साहित्य के लिए कदाचित् वही बाह्य और विदेशी है जो साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया में विसंगति उत्पन्न करता है। ऐसे बाह्य या विदेशी को ही प्रभाव कहना चाहिए। जो बाह्य साहित्यकार के अंतर का अभिन्न अंग बन कर सृजन में प्रकट होता है उसे बाह्य तो कहा ही नहीं जा सकता, प्रभाव भी कहना उचित नहीं जान पड़ता। समाज और

साहित्य के निर्माण में योग देने वाले तथाकथित प्रभावों का हम विश्लेषण-विवेचन भले ही करें, उन्हें असंदिग्ध रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः केवल **कृत्रिम अनुकरण को ही प्रभाव** कहा जाये तो अधिक उचित है और यह प्रभाव सदैव बाह्य है, क्योंकि ऊपर से आरोपित होने के कारण रचना-प्रक्रिया में उसका कोई सह-योग नहीं है।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

आज जो विषय हमारे सामने रखा गया है, उसके माध्यम से, मैं समझता हूँ, यह सोचना है कि साहित्य किस सीमा तक बाह्य प्रभावों को स्वाभाविक रूप में अपने अन्तर्गत लेता रहा है, और हमें यह भी विचार करना है कि किस सीमा तक हम इन्हें ग्रहण करें।

जब हम बाह्य प्रभाव की ओर देखते हैं तो हमारा ध्यान दो विचारधाराओं की ओर आकृष्ट हो जाता है,—एक विचारधारा जिसे सामान्यतः राष्ट्रीय विचारधारा माना जाता है और दूसरी, जो कि आज बहुचर्चित है, अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा है। हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में जो आधुनिक नेता थे, आधुनिक विचारक थे; उनकी विचारधारा पूर्णरूप से भारतीय विचारधारा थी। मैं केवल दो नाम लेना चाहूँगा; तिलक और गांधी का, जो कि हमारे इतिहास के अनिवार्य अंग हैं। उन्होंने हमारी चिन्तनधारा को दूर-दूर तक प्रभावित और विकसित किया है। इन दोनों की विचारधारा, जैसा मैंने कहा, मूलतः राष्ट्रीय विचारधारा थी। उसके बाद उसी काल में भारतीय चिंतन में अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा आरम्भ होती है, और कवि टैगोर और नेहरू—यह दो व्यक्ति हमारे सामने आते हैं जो कि राष्ट्रीयता को मानते हुए भी अधिक बल देना चाहते हैं अंतर्राष्ट्रीयता पर। शायद टैगोर का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। कई बार स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में बापू और गुरुदेव टैगोर का मतभेद हुआ था। इन दोनों महानुभावों में स्वदेशी आन्दोलन को लेकर कई बार पत्राचार

हुआ और टैगोर गांधी जी की नीति से असहमत थे। उन्होंने राष्ट्रीयता से अपने आप को अलग कर लिया।

गांधी जी ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों को, ब्रिटिश प्रभावों को बहुत अच्छी तरह लिया। समय की पाबंदी पर उनका बहुत बल था, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग उन्होंने ग्रहण किया। लेकिन शायद जान-बूझकर अपना वेश, अपना आचरण इस तरह का उन्होंने बनाया जैसे ठेठ भारतीय किसान का होता है।

स्वतंत्रता के बाद कुछ विचारधाराएँ ऐसी विकसित हुई जैसे कि राष्ट्रीयता शायद अनावश्यक हो गई। राष्ट्रीयता का जितना उपयोग होना चाहिए था वह नहीं हुआ। भारतीय स्वतंत्रता हमारा लक्ष्य था और राष्ट्रीयता के साधन से हमने उस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। मैं समझता हूँ शायद हमारे नेताओं ने, हमारे विचारकों ने यहाँ पर कुछ जल्दबाज़ी की, कुछ भूल की और अभी तक पिछले कई वर्षों से जो राष्ट्रीय भावात्मक एकता की बात हम सुनते हैं, वह शायद बहुत देर से उस ग़लती को सुधारने का प्रयास है। लगने लगा है जैसे राष्ट्रीयता केवल इमरजेंसी की चीज़ है। जब हम संकट में हैं तो राष्ट्रीय हैं, और वैसे कुछ भी नहीं। इस तरह क्रमशः "अन्तर्राष्ट्रीयता" का बार-बार प्रयोग किया जाता रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता, अन्तरनागरिकता (कासमोपोलिटनिज़्म) आदि प्रयोग होते रहे। इंटरनेशनलिज़्म और कासमोपोलिटनिज़्म इन दोनों को बुरी तरह मिला दिया गया। कासमोपोलिटनिज़्म आज के औद्योगिक युग की चीज़ है; अंग्रेजी ढंग या पश्चिमी ढंग के कपड़े पहनना, हवाई जहाज में यात्रा करना, एक देश से दूसरे देश में जाना, और जिसे "इंटरनेशनल मील" कहते हैं, (अंतर्राष्ट्रीय खाना) उसे खा लेना। तो खाने और कपड़े की अन्तर्राष्ट्रीयता और वैचारिक स्तर की अन्तर्राष्ट्रीयता को हमने ग्रहण किया और इसीलिए बार-बार इस बात पर बल दिया जाता रहा कि हमें अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्रीयता जैसी पिछड़ी हुई चीज़, कुछ प्रतिक्रियावादी चीज़ हमने मान ली। यह जो स्थिति है राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की, इसके बारे में अगर कोई भारतीय विचारक कुछ कहता है, जैसा मैंने कहा, तो उसे पिछड़ा हुआ या प्रतिक्रियावादी कहने लगते हैं। इसलिए मैं किसी भारतीय विचारक की चर्चा नहीं करूँगा, केवल आपके सामने दो-तीन विदेशी विचारकों की चर्चा करना चाहूँगा जो अलग-अलग क्षेत्रों के हैं, यूरप के हैं। तीनों अँग्रेज हैं या अँग्रेज नहीं तो कम से कम इंग्लैंड में ही रह रहे हैं। और मैंने देखा कि राष्ट्रीयता के बारे में जैसा हेय दृष्टिकोण हमने अपना लिया है उससे बिल्कुल भिन्न भारत के बाहर है।

पहला नाम मैं अर्थशास्त्र से लेना चाहता हूँ। मिसेज रोबिन्सन ने, जो कैम्ब्रिज

विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र की अध्यापिका हैं, एक छोटी पुस्तक लिखी है 'फिलॉसफी ऑफ़ इकानॉमिक्स' (अर्थशास्त्र का दर्शन)। अर्थशास्त्र संबंधी जो सैद्धांतिक चिन्तन है उसके बारे में उन्होंने लिखा है। उसमें यह व्यक्त करने की चेष्टा की है कि आर्थिक विकास की जितनी चेतना है, सिद्धांत हैं, उनके पीछे सबसे प्रमुख तत्त्व राष्ट्रीयता का है। अगर राष्ट्रीयता को छोड़ दें तो आर्थिक विकास का कोई अर्थ नहीं रह जाता। बल्कि आर्थिक विकास की जो प्रेरणा है वह राष्ट्रीयता के प्रभाव से आती है। दो साम्यवादी देशों का उन्होंने नाम लिया है रूस और चीन का, और इन देशों के बारे में उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह दोनों देश आर्थिक दृष्टि से अगर विकसित हुए हैं तो केवल इसलिए कि इनकी प्रेरणा राष्ट्रीय है। अगर वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रेरणा से अर्थशास्त्र में काम चलाते तो शायद इनका विकास उस रूप में सम्भव न होता जैसा कि हम आज देखते हैं, चकित रह जाते हैं और कभी-कभी आतंक भी होने लगता है।

दूसरा नाम जो कि मैं लेना चाहूँगा वह है इंगलैंड के वैज्ञानिक प्रोफेसर मैन्डलज़ौन का। वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में फिज़िक्स के अध्यापक हैं। पहले वे चीन गये थे और फिर भारत आये। उन्होंने बी० बी० सी० से एक वार्ता प्रसारित की जिसका शीर्षक है "साइंस इन इण्डिया"। इस समय भारतवर्ष में विज्ञान की स्थिति क्या है इस पर उन्होंने बड़े निर्भीक और स्पष्ट ढंग से विचार व्यक्त किए हैं। उनका मूल भाव यह है कि भारतवर्ष विज्ञान की उन्नति करना चाहता है तो उसमें राष्ट्रीय भावना होनी आवश्यक है। उन्होंने कहा कि चीन की तुलना में यहाँ वैज्ञानिक चिन्तन या प्रयोगात्मक विज्ञान का चिन्तन पहले आरम्भ हुआ क्योंकि पहले अंग्रेज़ों के प्रभाव में, पश्चिम के प्रभाव में यहाँ विज्ञान का अनुसंधान होने लगा था, लेकिन आज स्थिति यह है कि चीन बहुत आगे है। यही उनका निष्कर्ष है। कारण क्या है ? कारण बिल्कुल वही है जो ऊपर मिसेज़ रोबिन्सन ने दिया है। इसका कारण यह है कि हम बराबर दूसरे देशों पर निर्भर हैं। हम अमरीका या ब्रिटेन से सारे विज्ञान की सहायता लेना चाहते हैं, और हममें अपनी राष्ट्रीय प्रेरणा कम है। इस संदर्भ में उन्होंने "नेशनल टेक्नालाजी" शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया है कि भारतवर्ष को विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करनी है तो उसे अपनी राष्ट्रीय प्रविधि विकसित करनी होगी अपनी ज़रूरत के हिसाब से, अपनी परिस्थिति के अनुसार और अगर केवल पश्चिम पर निर्भर रहा तो यह देश कभी भी विज्ञान में आगे नहीं बढ़ सकता। जैसा मैंने आरम्भ में कहा, अगर ये

विचार किसी भारतीय विचारक के होते तो निश्चय ही यह कहा जाता कि बड़ी संकीर्णता की दृष्टि है।

तीसरा और अन्तिम नाम साहित्य के क्षेत्र का है। पिछले दिनों बङ्गाल के एक साहित्यकार इङ्गलैंड गये। उनका नाम था सधन कुमार घोष। वे अंग्रेजी में लिखते हैं और बङ्गला में भी। उन्होंने इङ्गलैंड से लौट कर अपनी इङ्गलैंड यात्रा पर एक पुस्तक लिखी। उन्होंने जब अपनी पुस्तक प्रकाशित की तो स्वाभाविक था कि वे उसे इङ्गलैंड भेजते क्योंकि उसकी परीक्षा तो वहीं हो सकती थी, यहाँ उसकी ठीक-ठीक परीक्षा नहीं हो सकती थी। "न्यू स्टेट्समैन ग्रंड नेशन" ने, जो कि इङ्गलैंड का सबसे महत्वपूर्ण, सबसे प्रसिद्ध, सबसे प्रभावशाली साप्ताहिक पत्र है और उसके भी शायद सबसे प्रभावशाली समीक्षक मैलकम मैगरिज ने, जो बराबर इन विषयों पर लिखते रहे हैं, रेडियो में भी और पत्र-पत्रिकाओं में भी, उन्होंने उस पुस्तक की समीक्षा की। एक समीक्षात्मक लेख उन्होंने उसमें दिया। उसका शीर्षक उन्होंने दिया Gosh ! घोष लेखक का नाम था, उन्होंने उसका विश्लेषण किया और कहा Gosh ! अत्यन्त विस्मय ! कहीं कुछ घृणा, कुछ तिरस्कार, इन सब को व्यक्त करते हुए, उसके आगे लिखनेवाले का परिचय दिया। वह सचमुच पढ़ने योग्य है। उसमें अत्यन्त तीखे बोल हैं। उन्होंने चर्चा की है भारतीयों की जो अपना घर पश्चिम को मानते हैं, इङ्गलैंड को मानते हैं और पुस्तक के लेखक को भी उन्होंने उसी रूप में स्वीकार किया। उनका एक ही वाक्य मैं यहाँ कहूँगा, कि "अगर इस समय दुनियाँ में कहीं भी सच्चे अंग्रेज मिल सकते हैं तो वह केवल भारत में मिल सकते हैं।" सच्चे अङ्गरेज़ देखने हों तो आप इङ्गलैंड मत आइए, इसके लिए भारत जाइए, क्योंकि वहाँ की पार्लियामैंट में जैसी अंग्रेज़ी की आपको सुनने को मिलेगी वैसी यहाँ नहीं मिलेगी। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में जो नावों की दौड़ होती है उसमें अगर कोई दिलचस्पी रखता है तो बम्बई का बाबू रखता है।

तो पश्चिम के अंग्रेज़ यह कहते हैं कि तुम राष्ट्रीय रहो, अपने देश में रहो और हम हैं कि अपने ऊपर की अन्तर्राष्ट्रीयता किसी को देना नहीं चाहते, और रात भर में अन्तर्राष्ट्रीय हो जाना चाहते हैं; यूरप और अमरीका से सम्पर्क बना लेना चाहते हैं। हमारी वर्तमान स्थिति क्या है, कैसी अविकसित है, हममें कैसी ग़रीबी है, इसकी हमें चिन्ता नहीं है। शायद हम कभी ज्ञानगुरु रहे थे, हमने सारे संसार को उपदेश दिया था और आज क्या हैं, हम इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीयता का सहारा लेते हैं। आज विकास कहाँ होगा ? आज हम

कहते हैं कि देश के विकास की इतनी जरूरत नहीं, क्योंकि राष्ट्रीय स्वाभिमान ज़रा मुश्किल चीज़ है, उसके लिए कुछ करके दिखाना होगा। उसको हम आसानी से टाल देते हैं और बात करते हैं अन्तर्राष्ट्रीयता की, अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व की, और सारे संसार की। सारे संसार की उपलब्धि हमारी उपलब्धि है तो हमें अपनी उपलब्धि करने की ज़रूरत ही क्या है ? जैसे गेहूँ आयात करके खा लेते हैं शायद इसी तरह से हम ज्ञान-विज्ञान का भी आयात करना चाहते हैं, लगभग इसी प्रकार की स्थिति कम से कम मेरी समझ में आ रही है। हम पश्चिम से ज्ञान-विज्ञान का आयात करते हैं। यह नहीं कि मैं इसका विरोधी हूँ लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से हम कुछ सोचना चाहते हैं या उसके बारे में भी हमारी धारणा यही है कि हमको क्या ज़रूरत है आज सोचने की। वैज्ञानिक आविष्कार हमने एक भी नहीं किया। न हमारे देश में बिजली आविष्कृत हुई, न टेलीफोन, न रेडियो, कोई भी चीज़ तो आविष्कृत नहीं हुई और अब टेलीविज़न भी मँगा सकते हैं तो क्यों हम अपने ढंग से विकसित करें, अपने ढङ्ग से सोचें, इसकी क्या आवश्यकता है। हमारे देश में अर्थशास्त्री हैं, वैज्ञानिक हैं, दूसरे देशों में अधिक अच्छे हैं, वे हमारे लिए भी सोच रहे हैं और इसलिए हम सोचने से बरी हो जाएँ, कुछ इस प्रकार के भावों के लिए अन्तरराष्ट्रीयता की स्थिति बहुत दूर तक जिम्मेदार है।

इस राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के संदर्भ में जब हम अपने साहित्य की स्थिति पर विचार करते हैं तो वहाँ भी कुछ भ्रम की स्थिति दिखाई देती है। पहली बात जो यहाँ उपपत्ति के रूप में, एक मान्यता के रूप में मैं कहना चाहूँगा वह यह है कि चाहे कितनी अन्तर्राष्ट्रीयता की बात आप कर लें किसी भी क्षेत्र में, साहित्य की बात वहाँ पर आएगी, क्योंकि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। और व्यक्तित्व निश्चय ही जातीय अधिक होगा, क्योंकि साहित्य भाषा की अभिव्यक्ति है और भाषा जातीय होती है। अन्तर्राष्ट्रीयता के बावजूद साहित्य का एक ऐसा क्षेत्र है जो मूल-रूप से, प्रधान-रूप से जातीय होगा, राष्ट्रीय होगा। इसकी जड़ निश्चित रूप में जातीयता में होगी, राष्ट्रीयता में होगी। इसीलिए हम साहित्य की यह विशेष स्थिति देखते हैं कि उसमें सर्जन जातीय अधिक है और आस्वादन अन्तर्राष्ट्रीय होता है। जितना ही श्रेष्ठ साहित्य होगा उतना ही असाम्प्रदायिक और अन्तर्राष्ट्रीय आस्वादन वह प्रदान करेगा। वह कालिदास हो या शेक्सपीयर हो, सृजन की जड़ें जितनी जातीयता में होंगी, उसकी उपलब्धि उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दिखलाई देगी।

विज्ञान की स्थिति यहाँ फिर कुछ भिन्न हो जाती है। विज्ञान अपने सारे चिन्तन में मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति को ज्यादा महत्त्व देता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि विज्ञान का सृजन और आस्वादन दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय अधिक हों। लेकिन साहित्य के बारे में हम निश्चिन्त रह सकते हैं, कम से कम सोच सकते हैं कि इसका सृजन, इसकी उत्पत्ति मुख्य रूप से, मूल रूप से जातीय परिवेश, जातीय मिट्टी में ही होगी। अतः साहित्य में जो बाह्य प्रभाव की समस्या है यह कई रूपों में देखी जा सकती है। यह बहुत बड़ी समस्या है, और शायद मैं यह कहूँ, गम्भीर समस्या है। सबके लिए न हो, लेकिन कुछ के लिए जो लेखक हैं और जो लेखक से भी अधिक लेखन के बारे में ज्ञान रखते हैं और समीक्षकों के लिए यह ज्वलंत प्रश्न है। कठिनाई यह है कि आज हमारा जो लेखक है, उपन्यासकार को ले लीजिए, उसका निकटतम पूर्वज है प्रेमचन्द। पढ़ता है वह जेम्स जायस को और सेमुल बैकेट को। तो उसे एक तरफ प्रेमचन्द खींचते हैं दूसरी और जेम्स जायस और बैकेट। उसकी बड़ी विचित्र स्थिति है। कभी-कभी बड़ी दीन स्थिति हो जाती है। इतना लम्बा अन्तराल, इस अन्तराल को सहता हुआ! प्रेमचन्द और बैकेट और उनके बीच में अनेक वर्ष हैं, अनेक दशक हैं, मनोवृत्तियों के अनेक रूप हैं। मनोवृत्तियाँ परिस्थितियों में विकसित हुई; औद्योगिक क्रान्ति, धर्म के सम्बन्ध में दृष्टिकोण, न जाने कितनी परिस्थितियाँ हैं जो बदली हैं, और परिवर्तित होती रही हैं।

यह समस्या एकदम समसामयिक साहित्य की है, ऐसा ही नहीं, बल्कि मैं यह कहूँगा कि ख़ासतौर से उपन्यास-साहित्य में यह चेतना, भारतीय लेखन में बहुत आरम्भ से है या लगभग जैसे पश्चिम का सम्पर्क हमसे बढ़ा है, ब्रह्म-समाज के जमाने से या कुछ उसके बाद से। मैं केवल पीछे के दो-तीन उदाहरण आपको देना चाहूँगा। टैगोर का 'गोरा' और शरतचन्द्र के 'शेष प्रश्न' की 'कमल' और प्रसाद की 'तितली' की 'शैला'। तीनों नाम मैं जानबूझ कर ले रहा हूँ। इन तीनों उपन्यासकारों ने पश्चिम के प्रभाव को बड़े गहरे रचनात्मक स्तर पर जाँचने की चेष्टा की। यह प्रभाव खासतौर से बंगाल में भी था और मध्यदेश की ओर भी था।

"शेष प्रश्न" की कमल की और ढंग की समस्या है, मातापिता में एक यूरोपीय है, एक भारतीय है। और उसकी भी बड़ी समस्या है। उसे पश्चिम खींचता है और पूरब भी। यह भारतीय संस्कृति भी बड़ी रोचक और महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्रसाद की तितली की शैला की भी यही स्थिति है। प्रसाद जी ने वैसा विलक्षण विरोध तो नहीं दिखाया 'शैला' में, जैसा शरतचन्द्र

ने किया, लेकिन फिर भी उन्होंने उसका रूप भी इसी तरह रखा। वह जनमी भारतवर्ष में, चली गई इंगलैंड, विवाह किया भारतीय से, फिर लौटी भारतवर्ष में। लगभग इसी रूप में शैला का चित्रण किया है।

इन तीनों चरित्रों में तीनों लेखकों ने पूरब और पश्चिम के समन्वय की, सामंजस्य की परीक्षा की है। सब पाठकों के अपने-अपने अलग निष्कर्ष हो सकते हैं। इन चरित्रों के संबध में मुझे व्यक्तिगत रूप में लगता है कि तीनों के ही निष्कर्ष शायद बहुत-कुछ इस प्रकार के नहीं हैं कि कोई सामंजस्य की या समन्वय की अपेक्षा करें या यह कहें कि वह प्रयत्न सफल हुआ है। और इनका निष्कर्ष विषादपूर्ण ही है। तीनों लेखकों ने इस समन्वय का स्वागत नहीं किया। समसामयिक साहित्य में भी लेखकों ने यह समस्या उठाई है। उपन्यासकारों ने यह समस्या ली है और मुख्य रूप से यह कठिनाई उपन्यास के क्षेत्र में आती है। वहाँ पर जीवन के विविध रूपों को विविध परिस्थितियों में रखकर देखा जाता है, इसलिए अन्य उपन्यासकारों ने भी, रवीन्द्रनाथ, शरत और प्रसाद के बाद, यह समस्या उठाई। मैं दो लेखकों के नाम लूंगा ; डा० देवराज, जो समीक्षक और उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, की पुस्तक "अजय की डायरी" और अज्ञेय का उपन्यास "अपने-अपने अजनबी"। देवराज ने मृत्यु की समस्या को इतने मिले-जुले ढंग से, जुड़े हुए ढंग से देखा है जैसे गीता का पढ़नेवाला देखता है। उन्होंने अपने ढंग से बहुत महत्त्वपूर्ण, बहुत सफल और सचमुच सर्जनात्मक उपन्यास लिखा है। अज्ञेय दूसरी किताब के लेखक हैं, उनकी दृष्टि शायद देश के बाहर बहुत अधिक है या दूसरी विचारधाराओं के बारे में बहुत सोचते हैं। उन्होंने मृत्यु की समस्या को अपने ढंग से देखा है लेकिन मैं समझता हूँ कि 'अपने-अपने अजनबी' को अस्तित्ववादी उपन्यास कहना ग़लत है, क्योंकि लेखक ने वहाँ पर कोशिश यही की है कि अस्तित्ववाद की जो दृष्टि है उससे भिन्न प्रकार का एक दृष्टिकोण, भारतीय दृष्टिकोण या लेखक का अपना दृष्टिकोण हो, क्योंकि भारतीय दृष्टिकोण तो वही होगा जो लेखक का हो। मृत्यु या नश्वरता से आतंकित होने की कोई बात नहीं, क्योंकि नश्वरता हमको प्रेरित करती है सर्जन की ओर। मनुष्य अगर सर्जनात्मक है, अगर किसी न किसी से भिन्न है तो वह अपनी सर्जना के लिए उस नश्वरता का उपयोग करता है। और इसी प्रकार सर्जनात्मक जीवन से नश्वरता पर विजय भी हो सकती है। नश्वरता का उपयोग भी किया जा सकता है। मेरी समझ में 'अपने-अपने अजनबी' की यही दृष्टि है। यहाँ पर बाह्यप्रभाव है। लेकिन

बाह्यप्रभाव का उपयोग लेखक ने अपने ढंग से किया है। उस अस्तित्व-वाद के सामने, छोटी ही सही, लेकिन अपनी दृष्टि रखनी चाही है। वह लेखक कहाँ तक सफल हुआ है ? असल में उसकी सफलता या असफलता इस पर निर्भर करती है कि उसका लक्ष्य क्या है और किस चीज़ के लिए वह प्रयत्न कर रहा है।

इस तरह से कुल मिलाकर हम कहते हैं कि जहाँ तक साहित्य-सर्जन की बात है, अब हमारा काम समन्वय से नहीं चलेगा। अब हमारा काम टकराहट से चलेगा। टक्कर केवल दूसरों को देना नहीं होगा। बल्कि दूसरे से टकराना और टकराने में शक्ति उत्पन्न करना होगा। द्वन्द्व से शक्ति विकसित होती है इसलिए हम समन्वय के नाम पर केवल निष्क्रिय भाव से ग्रहण करते जाएँ इससे हमारा साहित्य, हमारी दृष्टि प्रभावित हो सकती है। हमें इसके लिए एक अधिक राष्ट्रीय, अधिक आत्मविश्वासपूर्ण दृष्टिकोण रखना होगा। जब छोटी, परन्तु स्वाभिमानपूर्ण स्थिति से ही हम इस टकराहट को झेलते हैं, नये विचारों की टकराहट को, तो शायद अपने व्यक्तिव को अधिक देख सकते हैं और इसलिए मेरी दृष्टि में तो बाह्य प्रभाव भारतीय व्यक्तित्व को जिस रूप में भारतीय बनाता है, जिस दूरी तक भारतीय बना पाता है, उसी दूरी तक उसकी सफलता है। भारतीय व्यक्तित्व क्या है, यह बड़ी विषम समस्या है, इसकी कोई परिभाषा नहीं, इसकी कोई व्याख्या नहीं, मेरी समझ में कोई सीमा भी नहीं है। एक बात कह सकता कि भारतीय व्यक्तित्व की केवल एक शर्त है कि अपनी स्थिति देखें, आज की परिस्थितियों को देखकर अपनी आवश्यकताओं को समझकर आप बाह्य प्रभाव का प्रयोग करें, यही भारतीयता का अर्थ हो सकता है, यही भारतीयता की दृष्टि हो सकती है और भारतीय दृष्टि को विकसित करने में, जैसा मैंने कहा, बाह्य प्रभाव जितनी सहायता देगा उतना ही श्रेष्ठ साहित्य बनेगा।

डा० हरिशंकर शर्मा

हमें देखना है साहित्य क्या है ? साहित्य की परिभाषा की गई है—'हितम्सहितम् तत्साहित्यम्, हितम् संहितम् तत्साहित्यम्, हितम् संपादयेत् इतिसाहित्यम् ।' साहित्य वह है जिसमें हित छिपा है, जो हित करता है और जो हित-संपादन करने में सहायता देता है ।

अंग्रेज़ी में इसे लिटरेचर कहते हैं, उर्दू में अदब कहते हैं, फ़ारसी में भी अदब कहते हैं, और अदीब कहते हैं साहित्यकार को । मेरा यह ख़याल है कि साहित्य पर आंतरिक प्रभाव भी पड़ता है और बाह्य प्रभाव भी । इसके बिना साहित्य जीवित नहीं रह सकता । भारतीय साहित्य में एक समय था जब अध्यात्मवाद की चर्चा होती थी और जब राष्ट्रिय आन्दोलन शुरू हुआ तो जो साहित्यकार, जो लेखक और जो उपन्यासकार महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखता था, चर्चा नहीं करता था, राष्ट्र की चर्चा नहीं करता था, स्वतन्त्रता की चर्चा नहीं करता था, वह साहित्यकार नहीं समझा जाता था । लोग कहते थे, फेंको इसे, यह अखबार किसी काम का नहीं है, इसमें साहित्य नहीं है, ये किताबें, ये कहानियाँ किस काम की हैं ! श्री प्रेमचन्द जी ने जो चीज़ें लिखीं, वे भारतीय भावनाओं को लेकर और उसी प्रभाव से प्रवाहित होकर लिखीं जिसकी कि उस समय आवश्यकता थी । साहित्य दो रूप रखता है—एक तो स्थायी साहित्य होता है जो संसार-भर के लिए होता है । एक सामयिक साहित्य होता है जो जिस वक़्त जो चर्चा चलती है, जो आन्दोलन होता है, उसको प्रभावित करता है । तुलसीदास लिखते हैं : 'जे न मित्र

दुख होंय दुखारी, तिन्हें विलोकत पातक भारी'—यह संसार-भर के लिए मान्य है। "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी सो नृप अवस नरक अधिकारी"—यह भी संसार भर के लिए है और कुछ बातें ऐसी हैं जो राम, सीता और कृष्ण के सम्बन्ध में हैं जिन्हें हम भारतीय बड़ी श्रद्धा से मानते हैं, लेकिन दूसरे लोग नहीं मानते। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य का जो रूप स्थायी है वह उस देश की संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बन्ध रखता है। अगर हमारे साहित्य पर किसी का प्रभाव पड़ता है, अगर हमारे साहित्य पर विदेशों का प्रभाव पड़ता है तो उसका हमें स्वागत करना होगा। उस अवस्था में उन प्रभावों का, जो हमारी संस्कृति, सभ्यता और भावनाओं के विरुद्ध नहीं है, हम स्वागत करेंगे और किया है। अभी प्रो० मेक्समूलर की एक किताब मुझे देखने को मिली है 'इण्डिया ह्वाट इट कैन टीच अस'। उसमें उन्होंने भारतवर्ष की, और उसकी संस्कृति की बहुत ज्यादा प्रशंसा की है। एक और किताब हिन्दु पालिटिक्स पर के० पी० जायसवाल की लिखी हुई है। उसमें उन्होंने बिलकुल सिद्ध कर दिया है कि डेमोक्रेसी और गणतन्त्र की जितनी शासन-पद्धतियाँ हैं सब भारतवर्ष से ही दूसरे देशों में पहुँची हैं। भारतीय साहित्य के अध्ययन से संबन्धित एक किताब हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने लिखी थी। उसमें उन्होंने यह लिखा है कि हमारे यहाँ सर्जरी का यह हाल था, कि १४४ सर्जरी के अस्त्र थे, जो बाल की भी खाल उतार लेते थे। हमारे पास इसके सारे प्रमाण हैं। ये सब भारत की प्राचीन उन्नति के प्रमाण हैं जो प्रभाव के रूप में यहाँ से दूसरे देशों में पहुँचे। साहित्य के अन्तर्गत जो चीज़ स्थायी रूप से आती है वह सारे संसार की चीज़ होती है और जो चीज़ एक देश के लिए होती है, वह भी साहित्य ही है। जैन साहित्य भी साहित्य है लेकिन उसमें जैन धर्म की ही बातें होंगी, हिन्दी में ही वे लिखेंगे, लेकिन अपनी ही बात लिखेंगे। उनकी दृष्टि भी साहित्यिक है। हिन्दी भाषा या देवनागरी लिपि तो एक माध्यम है। हाँ, भाषा में अदल-बदल बराबर होती रहती है। इतना प्रभाव होते हुए भी हमारा साहित्य कैसे मिट सकता है। हाँ, यह हम चाहते हैं कि जो प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़े वह हमारी संस्कृति के विरुद्ध न हो, वह हमारी भावनाओं के विरुद्ध न हो। हमारे देश और समाज पर जो विदेशी प्रभाव पड़ा उसका साहित्य पर भी असर हुआ। भारतीयों के नाम तक बदल गये। होशियार-सिंह, उम्मेद सिंह, फ़तह चन्द, उमराव बहादुर, मुंशीराम, दरबारी लाल, उलफ़त सिंह—ये समस्त नाम हमारी संस्कृति पर विदेशी प्रभाव के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मशाल सिंह, निहाल सिंह, शेरसिंह, बख्तावर सिंह, खुशहाल

चन्द—ये सब हमारे नाम बन गये। आदमियों के नाम ही नहीं, पंजाबाद, फर्रुखाबाद, अलीगढ़, बुलन्दशहर, मुर्शिदाबाद, एतमादपुर, बेलनगंज आदि कितने ही नाम प्रभाव के कारण बन गये। हमारे कपड़ों पर भी प्रभाव आ गया। मेज़, कुर्सी, लत्ता, पाजामा, पतलून, पतूही अरबी-फ़ारसी के शब्द हैं। रजाई, किताब, कमीज, लिहाफ आदि अरबी के शब्द हैं। कुरता तुर्की का शब्द है। मोटर, रेल, इंजिन, टिकट—अंग्रेजी शब्द हैं। खाने वाली चीजों में मलाई (बालाई फा०), जलेबी (जारेवर्दी फा०) हलुआ (फ़ारसी) के शब्द हैं। हलवाई फ़ारसी का शब्द है। गज़क अरबी में उस को कहते हैं जो शराब के साथ चीज़ को खाई जाती है। गुलकन्द, खुरमा, दुकान, बज़ाज़, दवात अरबी के शब्द हैं, मूलतः दुकान ही अरबी शब्द है, अरबी में बज़्ज़ कपड़े को कहते हैं, बज्जाज़ कपड़ा बेचने वाले को कहते हैं। कपड़ा संस्कृत का शब्द है, पाजामा फारसी का शब्द है। इतने शब्द हमारे यहाँ आ गए तो अब हम उनको बदल नहीं सकते।

नित्य सत्य शिव सुन्दर पर—
जिसका जीवन-व्रत है निर्भर।
जो शुद्ध बुद्ध भीतर बाहर—
हैं हितकारी हृदयोद्गार।
वह है सच्चा साहित्यकार।
जो अति कठोर कोमल महान्—
जो ओज-तेज निष्ठा-निधान
वरदान प्राण कल्याण त्राण,
जगमग प्रतिभा का चमत्कार—
वह है सच्चा साहित्यकार।
भय, पक्ष, प्रलोभन पास नहीं
पद-प्रभुता पर विश्वास नहीं
होता न हताश उदास कहीं
करता कुनीति पर पवि-प्रहार
वह है सच्चा साहित्यकार

तो साहित्यकार बनने की आवश्यकता है। और यदि साहित्यकार अच्छे होंगे, उच्चकोटि के होंगे तो उस साहित्य का निर्माण भी उसी स्तर का होगा।

उसको मैं साहित्य नहीं मानता जिस में बिलकुल व्यर्थ की कल्पनाएँ भरी जाती हैं,—केवल हँसने की सामग्री होती है। साहित्य वह है जो स्थायित्व धारण करता है, जो समाज का कल्याण करता है और जो जनता का हित करता है उस पर चाहे विदेशी प्रभाव पड़े चाहे हमारे देश का। वही साहित्य है और ऐसे साहित्य का ही मैं समर्थन स्वागत करता हूँ। ऐसे सत् साहित्य का जितना निर्माण हो उतना ही अच्छा है।

*

डा० विनय मोहन शर्मा

किसी देश के साहित्य पर बाह्य प्रभाव दो परिस्थितियों में पड़ता है—एक तो तब जब वह विदेशियों द्वारा शासित होता है और दूसरे तब जब व्यापार-व्यवसाय आदि के कारण विदेशियों के अत्यधिक संपर्क में आता है। हमारे देश का साहित्य पहली परिस्थिति में अधिक प्रभावित हुआ है। अँग्रेजों के आगमन के पूर्व मुसलमानों के सम्पर्क से इस्लामी सूफ़ी धर्म का कश्मीरी, सिंधी, हिन्दी, उर्दू और बँगला पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। हिन्दी निर्गुण-भक्ति-काव्य में सूफ़ी मत-धारा दो-तीन शताब्दी तक प्रवहित होती रही। दक्षिण में सूफ़ियों ने न केवल काव्य-ग्रन्थों की ही रचना की, अपितु दक्खिनी हिन्दी के, जो अरबी, ब्रज, मराठी और तेलुगु आदि भाषाओं के मिश्रण की एक नई भाषा बनी, निर्माण का भी कार्य किया। मुसलमान शासकों की भाषा-नीति ने 'जिसके द्वारा फ़ारसी राजभाषा बनी, देश की प्रायः सभी भाषाओं को प्रभावित किया। उनमें कश्मीरी, पंजाबी और सिंधी तो अरबी-फ़ारसी से ऊपर हो गईं, हिन्दी की अरबी-फ़ारसी शब्द-प्रचुर एक शैली-'उर्दू'भी एक विशिष्ट भाषा के रूप में प्रचलित हो गई।

अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रवेश दक्षिण की मराठी में तेलुगु, कन्नड़, तमिल और मलयालम की अपेक्षा अधिक हुआ। द्रविड़ भाषाओं में उनका केवल छिड़काव हुआ। पूर्वी भाषाएँ—बँगला, असमिया, उड़िया भी उनसे असंपृक्त न रह सकीं।

मुसलमान शासन के छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरान्त देश क्रमशः अँग्रेज़ों के अधीन हो गया। उनके सम्पर्क ने देश के साहित्य को ही नहीं सामाजिक जीवन को ही झकझोर दिया। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी यूरप में औद्योगिक-क्रान्ति का युग था। वैज्ञानिक चिंतन ने जनता को अधिक यथार्थवादी बना दिया। अँग्रेज़ों की भाषा और हिन्दी नीति से देश में अँग्रेज़ी शिक्षा का ज्यों-ज्यों प्रचार बढ़ता गया, हमारा साहित्य भी उससे अधिकाधिक प्रभावित होता गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार स्वीकारोक्ति के रूप में कहा था कि 'यूरोप से भावों का एक प्रवाह आया है और स्वभाव से ही वह हमारे दिल पर आघात करता है। इस प्रकार के घात-प्रतिघात से हमारा मन जाग उठा है। यह बात अस्वीकार करने से हमारी चितवृत्ति पर आघात करना होगा।'

जो प्रान्त अँग्रेज़ों के प्रथम संपर्क में आए उनका साहित्य अन्य प्रान्तों के साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य से अधिक आक्रान्त हो, आधुनिक बना। हमें देश के प्रत्येक साहित्य का ज्ञान नहीं है। अतः हम उन पर होने वाले प्रभावों का ठीक-ठीक अंकन नहीं कर सकते। अतः हम हिन्दी के सम्बन्ध में ही कुछ समग्र रूप से विचार कर रहे हैं। हिन्दी १९वीं सदी से अँग्रेजी साहित्य के सन्निकट आने लगी और यह कहने में हमें कदापि संकोच नहीं होना चाहिए कि वह प्रारम्भ में बँगला के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण कर सकी।

बँगला और अन्य भाषाओं में पद्य की अपेक्षा गद्य का विकास अँग्रेज़ी के प्रभाव का ही परिणाम कहा जा सकता है। साहित्य की विभिन्न विधाएँ अँग्रेज़ी के माध्यम से विकसित हुई हैं, इसमें संदेह नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में लिखा था 'हिन्दी भाषा में उपन्यास का पूर्ण रूप से अभाव है।' विशेषकर अँग्रेज़ी और बंग भाषा के अनुसार उत्तम नाटक भी आज तक बहुत कम लिखे गए। इस अभाव की पूर्ति के लिए हरिश्चन्द्र एक स्वतन्त्र पत्रिका निकालने का भी विचार कर रहे थे। हरिश्चन्द्र के पश्चात् प्रेमचन्द्र के पूर्व तक हिन्दी के कुतूहल-प्रधान उपन्यासों पर 'रेनाल्ड' के उपन्यासों का प्रभाव किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'मिस्टिरीज़ आफ़ दि कोर्ट आव लन्दन', 'ब्रे स्टेचूर' आदि उपन्यासों ने उस समय के उपन्यास-कारों को अधिक प्रभावित किया। देवकीनन्दन खत्री पर अँग्रेज़ी उपन्यासों की अपेक्षा 'दास्ताने ख्याल' और 'तिलस्मी होशरुबा' का विशेष प्रभाव पड़ा। 'रेनाल्ड' के अतिरिक्त हिन्दी के कुतूहल-प्रधान उपन्यासों पर 'विल्की कालिन्स', 'आर्थर

कानन,' आदि का विशेष प्रभाव देखा गया। 'सर वाल्टर स्काट' के ऐतिहासिक नाटकों ने भी हमारे उपन्यासकारों को ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन में प्रेरित किया। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट है। 'हार्डी' के आंचलिक उपन्यासों ने भी हमारे साहित्य में आंचलिकता को प्रोत्साहित किया है।

हिन्दी नाटक, जो पहले संस्कृत नाटकों के शिल्प का अनुकरण कर रहे थे, पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को ग्रहण करने लगे। इसका आभास लाला श्रीनिवासदास के 'रणधीर' और 'प्रेममोहिनी' नाटक से लिया जाता है। उधर सूत्रधार कहता है 'देखो अँग्रेज़ों की दया से फिर विद्या का स्रोत प्रचलित होकर सारे भारत-वर्ष को प्लावित कर रहा है।' दुःखांत नाटकों के प्रचलन पर भी पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकारना पड़ता है। प्रहसनों की एकांकी-रचना पर भी पाश्चात्य प्रभाव देखा जा सकता है।

काव्य के क्षेत्र में विभिन्न रूप से प्रभाव पड़ा है। यद्यपि निराला ने 'खुल गये छन्द के बन्ध' का घोष किया है, पर राय देवीप्रसाद पूर्ण का कथन है, कि मुक्त छन्द की प्रेरणा हमें अँग्रेज़ी और बँगला से प्राप्त हुई। साहित्य में प्राचीन के प्रति विद्रोह अँग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावादी काव्यानुशीलन से जागृत हुआ। हिन्दी काव्य के आधुनिकवाद अधिकांश में अँग्रेज़ी साहित्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित है। इसमें दो मत हो ही नहीं सकते।

हिन्दी भाषा के व्याकरण भी अँग्रेज़ी व्याकरण पद्धति पर लिखे गए। अँग्रेज़ी शासन के पूर्व व्याकरण लेखन का कार्य प्रायः नहीं के बराबर हुआ। औरंगज़ेब के काल में अँग्रेज़ी भाषा का एक परिचयात्मक व्याकरण, 'प्रदीप' लिखा गया। १८ वीं शताब्दी में हालेंडवासी 'जोरजा केटलेकर' ने हिन्दुस्तानी भाषा का एक व्याकरण लिखा था। उसके पश्चात् 'जोन गिलक्राइस्ट' ने हिन्दी भाषा का व्याकरण लिखा। १९ वीं शताब्दी में फ़ोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी पंडित लल्लूजी लाल ने 'ग्रामेटिकल प्रिन्सिपिल्स आव ब्रज भाषा' नामक पुस्तक लिखी। पादरी एडम और 'एथरिंगटन' के हिन्दी व्याकरण और भाषा-भास्कर नामक व्याकरण खूब प्रचलित थे। केलाग की 'दि ग्रेमर आव हिन्दी लेंग्वेजेज़' बहुत प्रसिद्ध कृति है। इन व्याकरणों का उद्देश्य विदेशियों को हिन्दी भाषा से परिचित कराना था। प्रारंभिक युग में पंडित केशवराम भट्ट ने हिन्दी व्याकरण हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार लिखा। उसके पश्चात् तो नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में पं० कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी व्याकरण की रचना की। इसमें भी अँग्रेज़ी व्याकरण [illegible] [illegible] को

सर्वथा विस्मृत नहीं किया गया। वाक्य रचना में विराम चिन्हों के प्रयोग का प्रचलन अँग्रेज़ी व्याकरण का अनुकरण ही कहा जा सकता है।

हिन्दी में पद्य की भाषा को बोलचाल की भाषा में ढालने का प्रयास भी आंग्ल प्रभाव कहा जा सकता है।

*

डा० रामविलास शर्मा

यदि हम इस चीज़ को परखना चाहें कि बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत हम कौन-कौन सी चीज़ें लेंगे और उसकी कसौटी यदि ये अक्षर हैं कि जो कुछ साहित्यतेर है वह बाह्य है तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि साहित्य से भिन्न विषयों का तर्क क्या है। साहित्य में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समाविष्ट नहीं हो सकती। आज की विचारधारा में, चाहे समाजशास्त्र को, चाहे मनोविज्ञान को, चाहे नीति विज्ञान को, चाहे संगीत को लें, मेरी समझ में संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो साहित्य में किसी न किसी तरह सम्मिलित न की जा सकती हो। इस पर भी साहित्य की अपनी एक सत्ता है। यहाँ साहित्य पर साहित्य के ही प्रभाव की बात कहनी है, इसलिए मैं भी अपने को इस क्षेत्र तक ही सीमित रखूंगा। दूसरा प्रश्न यह है कि प्रभाव क्या है। प्रभाव की व्याख्या मैं एक बार कह देता हूँ कि जिसे हम आत्मसात न कर पाएँ वह प्रभाव है और जिसको आत्मसात कर लें वह प्रभाव नहीं रह गया, आत्मभाव हो गया। मैं समझता हूँ कि आत्मसात कर लें तो बहुत अच्छा है, लेकिन आत्मसात करने से आत्मा को बल मिलता है या कष्ट पहुँचता है, यह भी देखना चाहिए। हम बहुत-सी बातें आत्मसात कर भी लें लेकिन वे हमारी आत्मा के लिए वांछनीय नहीं हैं।

ये प्रभाव दो तरह के हो सकते हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अप्रत्यक्ष। जैसे अंग्रेज़ी से मैं उदाहरण दूँ तो १६वीं शताब्दि में इंगलैंड की स्थिति और वहाँ के साहित्य की स्थिति हमसे बहुत अधिक दयनीय थी। उस समय इंगलैंड के

जो बहुत बड़े विद्वान् थे, उनको लगता था कि रोम और रोम के लोग हमारे ऊपर हावी हो गए हैं। प्रश्न था कि शेक्सपियर, और इनसे स्पर्धा कैसे की जाये, यानी एक स्पर्धा का भाव था। यूनान का साहित्य विशाल था। रोम का साहित्य विशाल था। इनसे स्पर्धा करनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि पिछले २० वर्षों से हिन्दी के कुछ ऐसे सहित्यकार थे जो इस स्पर्धा से प्रभावित थे। वे कहते थे कि हमको बंगाल के समकक्ष साहित्य रचना चाहिए या हमें अभ्युदय साहित्य चाहिए और इसको और आगे बढ़ाना चाहिए। नाटक साहित्य हमारा अभी अँग्रेज़ी के समकक्ष नहीं हुआ है, इसको आगे बढ़ाना चाहिए। मेरी धारणा है कि यह भी एक तरह का प्रभाव होता है और यह एक तरह का अप्रत्यक्ष प्रभाव है, यद्यपि उसके प्रभाव को आप सीधे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसमें अप्रत्यक्ष प्रभाव को जिसके अन्दर रचनात्मक प्रतिभा है, वह अधिक ग्रहण करता है और जिसमें रचनात्मक प्रतिभा की थोड़ी कमी होती है, वह प्रत्यक्ष प्रभाव को अधिक ग्रहण करता है। दूसरों की रचनात्मक क्षमता को देखकर, उससे टक्कर लें, उसके बराबर आएँ, उस तक आगे बढ़ें, यह हमारा प्रयत्न होना चाहिए। मैं यह मानकर चलता हूँ कि संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, सब एक-दूसरे से संबद्ध हैं। साहित्य समाज से संबद्ध है और एक देश का समाज, एक प्रदेश का समाज दूसरे देश के, दूसरे प्रदेश के समाज से संबद्ध है। इसका निष्कर्ष यह है कि आप जब आंतरिक और बाह्य इन दो शब्दों पर विचार करें तो सदा इनकी सापेक्षता पर ध्यान दें। कोई चीज निरपेक्ष रूप में बाह्य नहीं है और कोई चीज निरपेक्ष रूप में आंतरिक भी नहीं।

जैसे आप में से बहुतों को याद होगा कि कुछ वर्ष पहले छायावादी साहित्य का आन्दोलन विकास पर था तो उस समय हमारे साहित्य के अन्दर बहुत से लोग ऐसे थे जो यह कहते थे कि बंगालियों के प्रभाव से ऐसा साहित्य रचा जा रहा है और मेरे गुरु पं० बदरीनाथ भट्ट ने इसके ऊपर एक लेख भी लिखा था जिसमें उन्होंने लिखा था कि यह सब जूठन है बंगालियों की। ये बंगालियों की जूठन बटोर रहे हैं। तो उन्होंने जूठन बटोरी या नहीं, यह तो सवाल अलग है। जिस बात की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ वह है कि कुछ दिन पहले तक यदि बँगला का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा तो उसको भी हम बाह्य प्रभाव मानते थे। यदि एक प्रदेश के ऊपर दूसरे देश का प्रभाव पड़े तो भी हम उसको बाह्य प्रभाव मानते थे। और अब स्थिति ऐसी है कि जैसे-जैसे लोगों को दुनिया का नाश दिखाई देने लगा, वैसे दुनिया भी उनको छोटी दिखाई देने लगी। अब

वे सोचते हैं कि बँगला, तमिलनाड, कश्मीर और पंजाब तो अपने घर के अन्दर हैं, लेकिन जो बाहर की चीज़ें हैं उनको हम ज़्यादा से ज़्यादा, जल्दी से जल्दी समेटें। इस संबंध में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने प्रारंभ में जो यह बात कही थी उससे मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि हममें साहित्य का आधार, हमारी जातीयता अथवा हमारी जातीय संस्कृति अथवा हमारी जातीय आवश्यकताएँ होनी चाहिए। हम एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। आगे बढ़ने में हो सकता है कि आप एक ही जगह कोल्हू के बैल की तरह चक्कर लगाएँ या आप पीछे ही चले जाएँ या यह भी हो सकता है कि आप आगे बढ़ें। डा० चतुर्वेदी ने जो टकराहट की बात कही, वह भी मुझे बहुत पसंद है। इस संबंध में निवेदन यह है कि टक्कर एवं विरोध और संघर्ष, ये दोनों विभिन्न परिस्थितियों में हमारी प्रगति के लिए आवश्यक होते हैं। जैसे सामाजिक विकास के संदर्भ में मैं कहूँ कि किसी समय पूँजीपति और मज़दूर का सहयोग आवश्यक हो सकता है और किसी समय पूंजीपति और मज़दूर की टक्कर की भी आवश्यकता हो सकती है, उसी तरह से किसी जाति के अन्दर जो पुराना रूढ़िवाद होता है और जो नई प्रगतियाँ या चेतनाएँ होती हैं इन दोनों में भी टक्कर होती है। हमारी परम्परा के अन्दर जो बहुत से मूल्यवान तत्त्व हैं और जिनकी हमें रक्षा करनी चाहिए उनमें हमें सहयोग मिले—इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। यानी जातीयता के आधार की बात करते हुए हमें इस बात पर सदा ध्यान रखना चाहिए कि इस जातीय परम्परा में मूल्यवान तत्त्व कौन से हैं और हमें रूढ़िवाद में डालने वाले, हमें पीछे ढकेलने वाले तत्त्व कौन से हैं। मैंने तो अभी कुछ दिन हुए अख़बारों में पढ़ा कि नागालैंड के अन्दर जहाँ बहुत से झगड़े चल रहे हैं, वहाँ एक झगड़ा यह भी है कि वहाँ एक रानी है और उन्होंने किसी ज़माने में नरमेध यज्ञ किया था और शायद अब भी उस तरह के नरमेध यज्ञ के पक्ष में हैं। मैं कह नहीं सकता कि यह बात कहाँ तक सत्य है। लेकिन जैसे यूनान की संस्कृति के भव्यकाल में वहाँ पर एथेंस में जहाँ बड़े-बड़े मादक और बड़े-बड़े विलासी लोग थे वहाँ पर बहुत से प्रदेशों में नरमेध की प्रथा प्रचलित थी। वैसे ही अपने देश के अन्दर जहाँ बहुत बड़े-बड़े विचारक, बहुत बड़े-बड़े साहित्यकार हैं, वैसे ही अपने देश के अन्दर बहुत से पिछड़े हुए लोग भी हैं। उनके अन्दर बहुत सी रूढ़ियाँ हैं और उन सभी को यदि हम जातीय संस्कृति के अन्तर्गत मानें तो इससे जाति का हित नहीं होगा, बल्कि जाति आगे बढ़ने के बजाय पीछे हटेगी। हम संसार में लोगों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर आगे नहीं बढ़ सकते। बहुत संक्षेप में भारतेन्दु युग से हमारे यहाँ एक

नायिका भेद की परम्परा चली आ रही है और भारतेन्दु जी ने एक राष्ट्रीय चेतना, एक नवीन सामाजिक चेतना को जन्म दिया और कभी ये दोनों परम्पराएँ मिल करके चलीं, कभी इन दोनों परम्पराओं के अन्दर टक्कर हुई और आगे चल कर ऐसा दिखाई देता है कि वह जो रीतिकाल की नायिका भेद वाली परम्परा थी, वह ख़त्म हो गई और यह जो राष्ट्रीय चेतना वाली, सामाजिक चेतना वाली, नए भाव बोध, नए रस बोध वाली चेतना थी यह आगे चल कर विजयी हुई। तो जाति की कल्पना में, जातीय संस्कृति की कल्पना में कहाँ पर रूढ़ियाँ हैं, कौन सी चीज़ें आगे बढ़ाने वाली हैं, इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

आप यह कह सकते हैं कि जाति के अन्दर रूढ़ि और प्रगति की जो बात कही जा रही है इसका वाह्य प्रभाव से सम्बन्ध नहीं है। मैं यह बताना चाहूँगा कि बाह्य प्रभाव का इसी आंतरिक संघर्ष से सम्बन्ध है। एक समाज के अन्दर कौन से लोग किस तरह के बाह्य प्रभाव ग्रहण करते हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि उस समाज में, उस संस्कृति में उनकी स्थिति क्या है। जैसा मैं फिर अंग्रेज़ी से एक उदाहरण देना चाहूँगा कि १६ वीं सदी के आरम्भ में १८१८ में इंगलैंड के कवि शैली ने सबसे पहले भारत की स्वाधीनता के बारे में लिखा और उन्होंने जहाँ पर यूरोप की शिक्षा का प्रसार हो रहा था, उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि भारत के लोग यूरप की शिक्षा से तभी लाभ उठा सकते हैं, जब उन पर से अंग्रेज़ों का शासन समाप्त कर दें और पूर्णतः लोग स्वाधीन हों। यह शैली ने बाह्य प्रभाव के बारे में हमारे देश को लेकर एक बात कही और शैली एक विद्रोही कवि था। वह अपने यहाँ का जो अभिजात वर्ग था, उससे लड़ रहा था। इसी में उसको यह बहुत बड़ी चिन्ता थी कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ जाकर क्या कर रहे हैं। वरना वह भी यह कह सकता था कि यह अफ्रीका और एशिया के जितने लोग हैं, ये सब पिछड़े हुए हैं और इनको सभ्यता का पाठ पढ़ाना, यह अंग्रेज़ जाति का कर्म है और अंग्रेज़ जाति यह कर रही है यह बहुत अच्छी बात है। उसी तरह से आज के हमारे समाज में वे लोग जो परम्परा की रक्षा करना चाहते हैं, उसके स्वस्थ तथ्यों को विकसित करना चाहते हैं। जो देश को आगे बढ़ाना चाहते हैं, वे भी बाह्य प्रभाव ले सकते हैं और लेते हैं। लेकिन वे बाह्य प्रभाव दूसरी तरह के हैं—और वे लोग जो किसी देश विशेष से बँधे हुए हैं और जो प्रभाव तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव पर अधिक विश्वास रखते हैं, जिनके दिमाग़ में अपने भाव के अतिरिक्त प्रभाव अधिक है, वे जब विदेशी साहित्य को पढ़ते हैं तो उनके पढ़ने का ढङ्ग दूसरा होता है, विदेशी साहित्य के तत्वों को

ग्रहण करने का ढङ्ग दूसरा होता है। आज के समय जब कि देश एक दूसरे के निकट आ रहे हैं वहाँ पर मोटे तौर पर दो तरह से संस्कृतियों का संघर्ष हमको स्पष्ट दिखाई देता है। एक ऐसी संस्कृति जो मनुष्य के अन्दर आस्था उत्पन्न करे और ऐसी संस्कृति जो जीवन में अनास्था उत्पन्न करे, जीवन में कुण्ठा उत्पन्न करे, यानि एक तरफ़ मृत्यु का साहित्य और दूसरी तरफ़ जीवन का साहित्य। आप कहेंगे कि हम विश्व के साहित्य को बहुत मोटे तौर पर दो हिस्सों में बाँट रहे हैं। यह बात सही है। मैं साहित्य का जो जातीय रूप है उससे इनकार नहीं करता हूँ। हमारे देश के अन्दर जो बँगला साहित्य है, उसकी एक विशेषता है; हिन्दी साहित्य है, उसकी एक विशेषता है। इसके साथ ही भारतीय साहित्य की अपनी एक विशेषता है। वैसे भी हम पश्चिमी साहित्य की बात करते हैं। पश्चिमी साहित्य की कुल मिला कर एक विशेषता है जिसमें यूरोप और अमेरिका का साहित्य भी आ जाता है।

★

डा० सुरेश अवस्थी

मैं साहित्य की केवल एक विधा 'नाटक' को लेकर अपने विचार व्यक्त करूँगा ।

जब हम नाटक के क्षेत्र में बाह्य प्रभाव की बात करते हैं, तो कभी-कभी ऐसा लगता कि इस क्षेत्र में बाह्य प्रभावों की चर्चा आवश्यकता से अधिक करते हैं। हमारा अपना ही पिछले १०० वर्षों का नाटक साहित्य है, हिन्दी का और दूसरी भारतीय भाषाओं का। उसमें हमारी अपनी परम्परा, संस्कृत नाटक परम्परा, मध्ययुगीन नाटक परम्परा, लोक परम्परा, सबके क्या तत्त्व अवशेष हैं ? जब हम साहित्य की इन विधाओं के रूप की चर्चा करते हैं तो ऐसा लगता है कि अब वह केवल भारत की नहीं, अधिकांश एशियाई देशों की समस्या है कि हम अपनी परम्पराओं से, अपनी पारस्परिक स्थितियों से, प्रवृतियों से अलग हो गये हैं, कट गये हैं और यह समस्या काफ़ी सीमा तक गम्भीर है, उसी प्रकार से जैसे यूरप में फ़्यूचरिज़्म (भविष्यवाद) एक ऐसा साहित्यिक वाद आया, जिसका वहाँ की परम्पराओं से कोई सम्बन्ध नहीं था। बहुत-कुछ वही स्थिति हमारे देश में है, अनेक एशियाई देशों में है। पिछले १०० वर्षों से, विशेषकर नाटक के क्षेत्र में, हम देख रहे हैं, कि हम नाटक साहित्य का, नाटक की रूढ़ियों का, नियमों का, रचना-विधान का आयात कर रहे हैं। यह स्थिति हमको तब गंभीर लगती है जब हम देखते हैं कि जिन देशों के प्रभाव की हम चर्चा करते हैं, जिनके प्रभाव से हम आक्रांत हैं, बँधे हुए हैं, विशेष रूप से

नाटक के क्षेत्र में, रंगमंच के क्षेत्र में, वही देश अपनी परम्पराओं से मुक्त हो रहे हैं। यथार्थवादी रंगमंच में, नाट्य-लेखन की परम्परा में या नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में जब कोई नए प्रयोग किए जाते हैं, तो लोगों की धारणा यह होती है कि जो नाट्य-प्रदर्शन विदेशों में हुए हैं, उनकी समीक्षा पढ़कर और उनसे वह प्रभाव ग्रहण करके, वह प्रेरणा लेकर ही ये नए प्रयोग किए गए हैं। जबकि वास्तव में इस प्रकार के तत्त्व हमारी अपनी परम्परा में पहले से विद्यमान हैं। जैसे आजकल अनेक देशों में नाटक प्रदर्शन में एक विशेष प्रकार का विधान किया जा रहा है। रंगमंच पर अनेक धरातलों (मल्टीपिल लेविल) का निर्माण किया जाता है और पर्दों का प्रयोग न करके, अलग-अलग सेट न दिखाकर, उसी के द्वारा अनेक घटनास्थलों का बोध करा दिया जाता है। यह प्रयोग हमारी मध्ययुगीन नाटक की परम्परा में है, हमारी चित्रकला में है। हम रामलीला करते हैं, तो जिस समय राम-रावण युद्ध होता है, सीताजी को अशोक वाटिका में बैठा दिया जाता है; जबकि इन दोनों घटनाओं में समय और स्थान का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल उनको ऊँचे धरातल पर बैठा दिया जाता है। तो यह जो विभिन्न धरातलों का प्रयोग है, यह हमारी परम्परा में है।

तो सचमुच आवश्यकता इस बात की है कि जब हम बाह्य प्रभावों की बात करते हैं तो साथ ही साथ यह भी देखें कि कहाँ तक, किस सीमा तक, रचनात्मक स्तर पर, उनका उपयोग हम कर सकते और कहाँ तक उसे हम अपनी परम्पराओं से, अपने व्यवहारों से, अपनी शिल्प-विधाओं से, समन्वित कर सकते हैं। पश्चिम में आप देखेंगे पिछले वर्षों से, बल्कि मैं कहूँगा इस शताब्दी के आरम्भिक दशक से लोग पूर्वी देशों के रंगमंच और नाट्य-लेखन का उन परम्पराओं से प्रेरणा ले रहे हैं, जो व्यंजनात्मक हैं, कल्पनाप्रधान हैं, जिनमें एक शैलीबद्धता है और जो संकुचित, कल्पनाहीन, जड़, निर्जीव, यथार्थवादी परंपरा से भिन्न है, जो पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में विकसित हुई है। फ़िल्म के माध्यम से आज यथार्थवादिता की पूर्ति अधिक हो सकती है। इसलिए रंगमंच को उससे मुक्त करके हमें पूर्वी परम्पराओं के निकट ले जाना होगा।

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में यह आन्दोलन इतना व्यापक हो गया है कि सारे यूरपीय देशों में, इंगलैण्ड में, अमेरिका में, लेखन के क्षेत्र में और नाट्य-प्रदर्शन दोनों क्षेत्रों में जितना भी नया, प्रभावशाली, उत्तेजक, जीवंत कार्य हो रहा है, वह इसी विनिमय का परिणाम है।

१६वीं शताब्दी के मध्य में, जब हम पश्चिमी नाट्य-साहित्य के सम्पर्क में आए, वास्तव में, उसी काल में, हिन्दी में और अन्य भारतीय भाषाओं में आधुनिक नाटक एवं रंगमंच की परम्पराओं का जन्म होता है। लेकिन उसका समन्वय हम अपनी परम्पराओं से नहीं कर सके। जब-जब नाटक की विभिन्न परपम्राओं की जो शैलियाँ हैं, रूढ़ियाँ हैं, उनके सिद्धान्त हैं, उनके नियम हैं, उनकी टकराहट विदेशी परंपराओं के साथ होती है तो, विशेषकर हमारे देश में, जहाँ उसकी इतनी लम्बी ढाई हज़ार वर्षों की परम्परा है, तो एक संघर्ष होता है और जब तक उसका सुलझाव, कोई समाधान नहीं हो जाता, तब तक कभी भी नाटक और रगमंच का विकास नहीं हो सकता। शायद यही कारण है कि हमारे देश में नाटक, हिन्दी में और अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतना पिछड़ा हुआ है, उसका उत्पादन भी और उसका स्तर भी इतना नीचा, इतना गिरा हुआ है। भारतीय नाटककार यथार्थवादी नाट्य-लेखन की जो रूढ़ियाँ हैं, जो नियम हैं, और जो हमारे अनुकूल नहीं हैं, जो हमारी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, उनसे अपने को मुक्त नहीं कर पाए। आज भी रूस में गोर्की के उपन्यासों का नाटकीकरण होता है और उसमें ५०, ६० दृश्य होते हैं, घटनास्थल बदलते हैं, स्वगत कथन होते हैं, सूत्रधार होता है। पिछले २५ वर्षों से हम हिन्दी के आलोचक यही कहते आ रहे हैं कि प्रसाद के नाटक इसलिए अभिनेय नहीं हैं क्योंकि उनके संवाद साहित्यिक और कलापूर्ण हैं, उनमें स्वगत कथन हैं, और उनमें दृश्य बदलते हैं। नहीं ब्रैख्ट जो शायद इस समय विश्व का सबसे बड़ा नाटककार है उसका एक नाटक "मदर करेज" है। उसमें शायद २०–३० दृश्य हैं—रसोईघर से लेकर लड़ाई के मोर्चे तक, और इतना प्रभावशाली चार घण्टे का प्रदर्शन होता है, कोई यह नहीं कहता कि उसमें दृश्य बदलते हैं, घटनास्थल बदलते हैं और कई सेट हैं और इसलिए वह अभिनेय नहीं है और श्रेष्ठ नाटक नहीं है।

अभी दिल्ली में पिछले वर्ष 'गोदान' का प्रदर्शन हुआ। हम 'गोदान' का नाटकीकरण करते हैं, तो उसका जो काव्य विस्तार है (एपिक डाइमेन्शन) उसको संकुचित करके तीन अंकों के सेट का ड्राइंग रूम ड्रामा बना देते हैं और उसको कमज़ोर कर देते हैं। तो मैं समझता हूँ कि इस दृष्टि से यह चर्चा और भी महत्त्वपूर्ण है कि हमें इस ओर भी ध्यान देना है कि बाह्य प्रभाव, जैसा हम सभी सहमत हैं, तो आते ही हैं रचना प्रक्रिया के साथ ही, लेकिन इसके साथ यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि कहाँ तक, कौन कितने प्रभाव हमारे लिए सार्थक हैं और

साथ ही साथ हम यह भी देखें कि हम अपनी परम्परा से क्या कुछ ले सकते हैं, विशेषकर नाटक के क्षेत्र में, क्योंकि यह ऐसी साहित्यक विधा है, जो कि इतनी पुरानी है, जिसकी हमारे यहाँ इतनी विविध परम्परा है, हमारी लोक-परम्परा और मध्ययुगीन परम्परा और संस्कृत नाट्य परंपरा इसलिए, हम जब कभी बाह्य प्रभावों की बात करते हैं, तो यह बात आवश्यक हो जाती है कि हम यह भी देखें कि हमारे साहित्य का जो रूप है, मैं विशेषकर शिल्प के स्तर पर, रूप-विधान के स्तर पर बात कर रहा हूँ, इसमें क्या कुछ हमारी परम्पराओं से जुड़ा हुआ है, क्या कुछ आवश्यक है और साथ ही साथ जहाँ हमें नए प्रयोग करने हैं, वहाँ क्या कुछ बाहर से लेकर हम अपनी परम्पराओं से सम्बद्ध कर सकते हैं। अभी फ्रांस में जो सबसे बड़ा नाटककार है जिरादू, उसका एक नाटक मैंने दिल्ली में देखा, उसमें संस्कृत नाटकों की शैली में नट-नटी हैं, सूत्रधार है, नाटक का सूत्रधार ही दृश्यों पर बराबर टीका करता रहता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि हमारे यहाँ १६वीं शताब्दी में "अंकिया" नाटक में, जो असम में विकसित हुआ, सूत्रधार वही कार्य करता है, जो वह आज पश्चिम के नाटकों में कर रहा है। हम यथार्थवादी नाट्य-परम्परा के लेखन से इतना प्रभावित हो गए कि हमारे नाटककारों ने कभी इसकी आवश्यकता नहीं समझी कि यह देखें कि हमारी अपनी नाट्य-लेखक की परम्परा क्या है। विदेशी निर्देशक पिछले वर्षों में हमारे यहाँ आते रहे हैं, हमारे यहाँ के नाटक प्रदर्शन देखने के लिए, और मुझे बराबर उनसे मिलने का अवसर मिला है। उनसे यह पता चलता है कि पश्चिम अब नाटक के क्षेत्र में जहाँ है वह पूर्व के निकट है और हम वहाँ से बहुत दूर भाग रहे हैं और यह समझते हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं।

जैसा मैंने आरम्भ में कहा, मैं विषय की व्यापकता में न जाकर अत्यन्त सीमित क्षेत्र में कहूँगा कि हमारे नाटक में शिल्प के स्तर पर प्रभाव पड़ा। पिछले १०० वर्षों में हमारे ऊपर नाटक के क्षेत्र में बाह्य प्रभाव पड़े और उन प्रभावों को हम आत्मसात नहीं कर सके जिसका यह दुष्परिणाम हो रहा है कि हमारा जो नाटक साहित्य है वह इतना क्षीण और दुर्बल है आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी परम्पराओं को खोजें और जो अपनी परम्पराओं के तत्त्व हैं, रूढ़ियाँ हैं, उनके साथ बाह्य प्रभावों का अधिक कलात्मक समन्वय करें।

डा० गोपाल शर्मा

आज की चर्चा का विषय बहुत सीमित था और ललित साहित्य को प्रधान रूप से चर्चा का केन्द्र बनाया गया। ललित साहित्य की सृष्टि का आधार जन-जीवन है। जन-जीवन की गतिविधियों से उत्पन्न जो हमारी मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं जिनके कारण हम साहित्य लिखते हैं, उन पर किन-किन प्रभावों का किस प्रकार मूल्यांकन किया जा सकता है, इन बातों को हम आज यदि सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर लें तो हमारा काम बहुत सरल हो जाएगा। उदाहरण के लिए चतुर्वेदी जी ने आरम्भ में द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय स्थिति का वर्णन किया। डा० रामविलास शर्मा ने अपने बहुत ही उद्‌बोधक विचारों के द्वारा यह बताने की चेष्टा की या यह स्थापना ही कर दी कि प्रत्येक समाज में यह द्वन्द्व की स्थिति है, उस द्वन्द्व का सही मूल्यांकन कर यदि हम साहित्य की रचना करें या साहित्य की गतिविधियों का मूल्यांकन करें तो उससे समाज को या समाज के विकास में एक सही रास्ता हमको प्राप्त हो जाता है, हम सही मूल्यांकन करके चीजों को अच्छे बुरे रूप में देख सकते हैं और अच्छे को ग्रहण कर सकते हैं।

आज द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय समाज की जो स्थिति हुई है उसमें एक बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ जिससे कि हमको स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। परन्तु वह वैसा आन्दोलन नहीं हुआ, वैसी हलचल नहीं हुई, जैसी यूरोप में बहुत सालों से दो महायुद्धों से हुई है जिसने कि मृत्यु के साक्षात दर्शन कराए

हैं। हमारे यहाँ जो आन्दोलन हुआ है वह ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित आन्दोलन है, या उसमें जो कुछ भी थोड़ी-बहुत मात्रा में विनाश के दर्शन हमको हुए हैं, वह इतने दार्शनिक रूप से ढके हुए विनाश के दर्शन हैं कि उन्होंने हमारे मनों पर वह छाप नहीं डाली है कि यकायक हमारे जीवन में मृत्यु का दर्शन निर्मित हो जाए। उदाहरण के लिए महात्मा गांधी का जितना भी आन्दोलन था वह आन्दोलन एक विशेष दर्शन पर, एक नई चेतना पर आश्रित है। उस चेतना की आधार-भूमि बहुत समय से चले आ रहे विचारों के नये रूप से प्रतिपादन पर आश्रित है। हम बहुत ज़माने से सुनते आ रहे हैं कि राजा और शासित—इन दोनों के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। जो शासित है वह राजा का अनुयायी है, उसकी आज्ञा का पालक। जब यह दो हो जाएँ तो राजा और शासित के बीच जो सम्बन्ध होता है वह मात्र विद्रोह का होता है। महात्मा गांधी ने इस भाव को आत्मसात करके, इस परम्परागत भावना के विद्रोह में एक नई कल्पना खड़ी की जिसका नाम रखा 'असहयोग आन्दोलन'। यह विशुद्ध भारतीय कल्पना है। राजा और प्रजा के बीच जो पारम्परिक सम्बन्ध चले आ रहे हैं या समाज और व्यक्तियों के बीच जो पारम्परिक सम्बन्ध चले आ रहे हैं, उनको नये चिन्तन द्वारा, नये मूल्यांकन द्वारा, नई परिभाषा देते हुए भारतीय समाज के समन्वय की एक नई झाँकी जो हमारे सामने प्रस्तुत की गई उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महात्मा गांधी के सारे चिन्तन ही हैं। मज़दूर वर्ग, पूँजीपति, इन दोनों के बीच संघर्ष, आज से नहीं बहुत सालों से चला आ रहा है। दुःख की कल्पना इन दोनों के बीच में है। दुःख की कल्पना जिस तरह कि बुद्ध के ज़माने में थी, वैसी हमारे बीच में भी है। बुद्ध ने रास्ता दिखलाया था कि हम उन मान्यताओं को जो हमें भारतीय परम्परा से प्राप्त हैं, और विचारक के रूप में हमारे सामने आ रही हैं, उन मान्यताओं को हम उसी रूप में स्वीकार न करें, उनको अपने विचारों द्वारा पुष्ट करके, फिर से विचार करके, उनका परीक्षण करके उनको नए रूप में ग्रहण करें। बुद्ध की सबसे बड़ी जो देन है, वह है वैज्ञानिक उत्साह (Scientitic spirit)। आज जो सारे विज्ञान की रचना हुई है वह एक मात्र इसी सिद्धान्त पर हुई है। हमारे मन में जो औत्सुक्य है उस औत्सुक्य ने इस बात को जन्म दिया है कि हम परम्पराओं का परीक्षण करें। परीक्षण करने में नई-नई चीजों का आविष्कार होता है। इसी आधार पर इसी मानसिक पृष्ठभूमि पर यदि हमने वास्तविक

वैज्ञानिक दृष्टिकोण किसी भी युग में ग्रहण किया तो वह महात्मा गांधी के युग में और उसकी परम्परा जिस रूप में हमारे सामने आगे बढ़नी चाहिए उसमें व्याघात हो गया। गांधी ने पुरानी परम्पराओं को कायम रखते हुए हमारे जीवन की आवश्यकताओं तथा वस्तु-स्थिति के अनुरूप एक समन्वित समाज की कल्पना की। वह चीज़ महात्मा गांधी ने भारतीय जीवन को परख कर, एक दर्शन के रूप में हमारे सामने रखी जिसका कि नाम अध्यात्मवाद या अन्य वाद नहीं, सिर्फ गांधी दर्शन कहना पड़ता है। क्योंकि उसमें अधिक समन्वय की स्थिति है। पूँजीपति और मज़दूर के बीच में सहयोग-असहयोग की कल्पना, वह भी त्याग पर आश्रित है। इसी प्रकार राजा और प्रजा के बीच की जो कल्पना है वह भावों पर आश्रित है। विचार और भावना का समन्वय करते हुए पूरे दर्शन का पुनर्गठन आज के चिन्तन की सबसे बड़ी चीज़ है। इसका सूत्र हमें साक्रेटीज़ से प्राप्त होता है। साक्रेटीज़ के ज़माने में जब ज्ञान की पुनर्रचना की जाती थी तब वह बात-बात में प्रश्न करता हुआ यह कहता था कि यह किस प्रकार से है? यह ठीक है? यह तुमने किस प्रकार किया? चौराहे पर खड़े होकर प्रत्येक व्यक्ति से पूछता और इस तरह से बात करके वह जो सारी स्थिति है, जो वर्तमान प्रसंग है उसे नये रूप में, ग्रहण करके, नई वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में हमको नई विचारणा दिया करता था। यह दार्शनिक पृष्ठभूमि आज भारत में हमारे सामने है। इस दृष्टि से हमें साहित्य की परख करनी चाहिए।

डा० रामविलास शर्मा ने कहा कि नायिका-भेद से हम आज राष्ट्रीय साहित्य पर आए। भारतेन्दु जी के ज़माने में, स्थिति ऐसी थी जब कि हम नवचेतना को आत्मसात करने, उसका परीक्षण करने का काम करते थे। वह एक संधिकाल था जब कि इन चीज़ों का परीक्षण हो रहा था और उन मूल्यों का पारस्परिक मूल्यांकन करके कौन-सा श्रेष्ठ है, कौन-सा ग्राह्य है, कौन-सा त्याज्य है, इन सबका परीक्षण हो रहा था। लगभग वही स्थिति, द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारे सामने आई। क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के बाद अँग्रेज़ी साहित्य, बाह्य साहित्य, बाह्य विचार और बाह्य विज्ञान का प्रचार भारत में इतना हो चुका है कि आज हम यह नहीं कह सकते कि हमारी सामाजिक प्रकृति, सामाजिक उन्नति मात्र हमारे साधनों की हुई है। आज जो कुछ हम हैं उसमें कितना विदेशी संस्कारों का, विदेशी साहित्य का, विदेशी सामग्री का, विदेशी चिन्तन का हाथ है, जिसके फलस्वरूप आज हमारी स्थिति

ऐसी विषम दिखाई दे रही है, इसका स्पष्ट मूल्यांकन हम नहीं कर सकते। बराबर द्वितीय महायुद्ध के बाद में प्रभाव ही प्रभाव हमारे ऊपर आते रहे हैं। हमारा निर्माण गांधी जी के बाद उनकी परम्परा को कायम रखना रह गया है। जिस तरह कि बड़ी भारी झाँकी निकल जाए और हम उसकी प्रशंसा करते हुए रह जाएँ। इस स्थिति में हम जब कि बाह्य प्रभावों से बहुत ज्यादा त्रस्त थे उस कारण आज जो हमारी स्थिति है उसमें हम यह स्पष्ट रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकते कि हमारे समन्वय का मूल्यांकन क्या होना चाहिए। हमको वास्तव में अपने साहित्य में देखना चाहिए, कि क्या श्रेय है, क्या प्रेय है, क्या त्याज्य है, क्या रखने योग्य है। आज का जो साहित्यकार है, जो पाठक है, वह विदेशी साहित्य ज्यादा पढ़ता है, अपना साहित्य कम पढ़ता है। यह निश्चित है, अगर आप ईमानदारी से अपने हृदय पर हाथ रख कर पूछें तो आज डी० एच० लारेंस के प्रायः जितने उपन्यास कनाट प्लेस की सड़कों पर मिलते होंगे वह सब पढ़े जाते होंगे, जितने जासूसी उपन्यास होते हैं वह सभी पढ़े जाते होंगे। लेकिन अपने साहित्यिक की घोर उपेक्षा की जाती है।

जो निष्कर्ष मैंने अध्ययन से निकाला है वह यह है कि समन्वित रूप से देखा जाए तो आज जीवन का दर्शन, पुनर्रचना का दर्शन है। यदि हम पुनर्रचना करते हैं तो उसमें हमें सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है, अपने अनुभवों का योगदान करना पड़ता है, और नवगठन में हमको अपनी सर्जनात्मक सृष्टियों का प्रयोग करना पड़ता है। इन तीनों में हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी परिस्थिति, हमारा समाज, इन सबका समन्वित प्रयोग होता है। इसके फलस्वरूप जितने बाह्य प्रभाव हैं वह बगैर आत्मसात किए हुए, बगैर उनका उचित मूल्यांकन किए हुए प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। यदि हम साहित्य के क्षेत्र में, किसी भी विभाग का या किसी भी विचारधारा का पुनर्रचनात्मक दृष्टिकोण से विचार करें तो सम्भवतः उसका समाजसापेक्ष सही रूप हमारे सामने आ सकता है।

श्री वालकृष्ण राव

मैं सामान्य या औपचारिक अर्थ में इसे अध्यक्षीय भाषण मानने को तैयार नहीं हूँ। मैं इसमें अपने दृष्टिकोण से अपनी बात कहना चाहता हूँ ; अध्यक्ष के रूप में कही गई बातों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं चाहता।

मेरे पूर्व-वक्ता डा० गोपाल शर्मा ने जो कहकर शुरू किया ; उससे भी मेरा मतभेद है और जो कहकर अपना भाषण समाप्त किया उससे भी। जिससे समाप्त किया वह है 'अधिकारी' व्यक्ति। आज के विषय पर, बोलने के लिए कोई व्यक्ति जो साहित्य में रुचि रखता है, वह अधिकारी तो हो ही नहीं सकता। उसने इस पर कितनी गहराई से विचार किया है, कितना नहीं किया है---यह और बात है। लेकिन वह अधिकारी तो कदापि नहीं है जो भी साहित्य में रुचि रखता है। उनकी पहली बात जिससे भी मेरा मतभेद है ; वह यह कि इस विषय पर प्रायः सभी बातें कही जा चुकी मैं; मैं यह स्वीकार नहीं करता। मैं समझता हूँ कि इस विषय पर सचमुच यद्यपि बहुत कुछ कहा गया है, फिर भी बहुत कुछ कहने के लिए शेष है। यह विषय एक अर्थ में बहुत व्यापक है निश्चय ही, और मैं सकभता हूँ कि यह अच्छा ही हुआ कि हम लोगों ने—आपके निदेशक जी और मैंने—यह विषय इसी रूप में रखा कि, इसे अधिक स्पष्ट नहीं किया। इससे अधिक स्पष्ट करने की प्रक्रिया से वह निश्चय ही सीमित हो जाता। हमने जैसे उदाहरण के तौर पर कभी यह नहीं बताया "साहित्य पर" के क्या अर्थ हैं ; साहित्य की सर्जना पर, साहित्य के

आस्वादन पर या साहित्य के मूल्यांकन पर; किस पर बाह्य प्रभाव है ? और सारे समय जो कुछ बात चीत हुई है केवल साहित्य की सर्जना के बारे में हुई है। शायद अंततः यही होता। लेकिन बाह्य प्रभाव यदि हम उस का परीक्षण करते हैं तो साहित्य की सर्जना पर ही नहीं, उसके मूल्यांकन पर निश्चय ही करेंगे। क्योंकि आज हमारे बीच जो स्थिति है उसमें यह कहना असम्भव है कि बाह्य प्रभाव मूल्यांकन पर अधिक है या सर्जना पर। रामविलास जी ने, और भी वक्ताओं ने, सर्जना पर अंग्रेजी और अन्य विदेशी लेखकों के प्रभावों का जिक्र किया। निश्चय ही वे स्वीकार करेंगे कि मूल्यांकन पर भी, समीक्षा पर भी प्रभाव उतना ही गहरा और उतना ही, मैं क्षमा चाहता हूँ यदि मैं इस शब्द का प्रयोग करूँ, छिछला नज़र आता है। और साहित्य के प्रसारण, साहित्य के आस्वादन की प्रक्रियाएँ-सब पर हमें विदेशी और बाह्य प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। पर इससे पहले कि हम सब क्षेत्रों में, इन सब स्तरों पर, इन प्रभावों का परीक्षण करें, शायद यह अच्छा होगा कि हम यह निश्चित करें कि बाह्य प्रभाव से हमारा मतलब क्या है ? निश्चय ही केवल विदेशी प्रभाव से हमारा मतलब नहीं है। यह तो कई वक्ता स्वीकार कर चुके हैं। लेकिन ठोस उदाहरण देकर या बातें कहकर शायद यह बहुत स्पष्ट नहीं किया गया कि बाह्य प्रभाव यदि विदेशी प्रभाव ही नहीं हैं और भी हैं तो क्या हैं। मैं यह चेष्टा करूँगा दो-एक चीजों को आपके समक्ष रखकर कि मेरी राय में वे बाह्य प्रभाव हैं जो सामान्यतः बाह्य प्रभाव के रूप में ग्रहण नहीं किए जाते। एक तो राजनीतिक प्रभाव। साहित्य की सर्जना पर, साहित्य के प्रसारण पर और निश्चय ही साहित्य के मूल्यांकन पर राजनीतिक प्रभाव बहुत हैं और राजनीतिक प्रभाव अन्ततः बाह्य प्रभाव ही हैं। दूसरी बात है धार्मिक और अन्य दार्शनिक मान्यताओं का प्रभाव—हम बहुधा पद्यबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को दार्शनिक काव्य मान लेते हैं। अरविन्द दर्शन का प्रभाव बहुत से कवियों पर है। हम अरविन्द दर्शन के सिद्धान्तों को, उनकी मान्यताओं को, उनके पद्यबद्ध रूप को देखकर अरविन्द-दर्शन से प्रभावित काव्य सहज ही स्वीकार करते हैं। यह भी बाह्य प्रभाव है। यह मेरी मान्यता है कि वह सब बाह्य प्रभाव है जो साहित्य की सर्जना के लिए, सौंदर्य की सृष्टि के अतिरिक्त या सहज सर्जना की प्रेरणा से भिन्न कोई प्रेरक तत्व हैं। यदि हम किसी राजनीतिक मान्यता को प्रतिपादित करने के लिए कोई उपन्यास लिखते हैं या काव्य रचना करते हैं तो उसकी प्रेरणा का उत्स निश्चय ही बाह्य है—साहित्येतर। यों तो साहित्य पर प्रभाव क्या हो सकता है भला ? जो कुछ है सभी बाह्य भप्राव है, जीवन का प्रभाव है, समाज का प्रभाव है, परिवेश का प्रभाव है, सभी बाह्य प्रभाव हैं—पर मैं इस अर्थ में नहीं

लेता । साहित्य की सर्जना के पीछे जो प्रधान उत्स है वह यदि सौंदर्य की सृष्टि नहीं है, यदि उस आनन्द की उपलब्धि नहीं है (जो पुराना शब्द होने के बावजूद मैं समझता हूँ अप्रतिद्वन्द्वी है, उसके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा शब्द रखा नहीं जा सकता) उस आनन्द की उपलब्धि के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य है, कोई प्रेरणा उसके पीछे है तो बाह्य है । उसका एक बहुत बड़ा उदाहरण हमें अभी अभी हाल में मिला जब चीनियों ने हमारे देश पर आक्रमण किया । चीनी आक्रमण के संघात के फलस्वरूप कितना साहित्य, तथा-कथित साहित्य हिन्दी में और अन्य भाषाओं में भी लिखा गया, प्रकाशित हुआ । उसका परिमाण बहुत ज्यादा था, लेकिन उसमें कितना सचमुच साहित्य था यह आपसे छिपा नहीं है । क्योंकि चीनी आक्रमण की प्रेरणा जिस साहित्य-सर्जना का उत्स बनी, वह वास्तव में बाह्य प्रभाव होकर रह गई । अन्यथा जो कविताएँ या जो नाटक उसके प्रभाव के कारण पढ़ने को मिलते, वे कुछ और होते । इसी प्रकार जो बड़ी-बड़ी आपदाएँ देश पर आईं या जो बड़े-बड़े मंगल अवसर आए उन सबके तात्कालिक प्रभाव के फलस्वरूप बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया । वह सब बहुत बड़े अंश में केवल बाह्य प्रभाव होकर रह गया । कहा गया है कि महात्मा गांधी की हत्या तो गोडसे ने एक ही बार की, लेकिन महात्मा गांधी की हत्या उनके ऊपर कविता लिखने वाले कवियों ने अनेक बार की । जितनी बार कलम उठाया उतनी बार उनकी हत्या की । इस प्रकार ये चीजें होती रही हैं और चीनी आक्रमण का प्रभाव तो हमारे सामने बहुत ही हाल में आया है । पद्यबद्ध दर्शन, पद्यबद्ध या साहित्यगत प्रचार, यदि ये सब बाह्य प्रभाव के उदाहरण हैं तो पूछा जा सकता है फिर क्या है जो बाह्य प्रभाव नहीं हैं ? इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं, मेरे पूर्व वक्ताओं ने दो एक उत्तरों को आपके सामने रखा भी है । जैसे, जो आत्मसात हो गया वह तो भाव है और जो आत्मसात नहीं हुआ, ऊपर तैरता रहा, वह प्रभाव है । पर वास्तव में क्या है बाह्य प्रभाव ? साहित्य की सर्जना क्यों होती है ? किन प्रभावों के कारण साहित्य के सर्जक को प्रेरणा मिलती है कि वह साहित्य-सृष्टि करे । वे प्रभाव कहाँ से आते हैं ? अगर उन प्रभावों को वह भली-भाँति जानता है कि वे कहाँ से आए हैं तब वे चेतना के उस स्तर पर रह जाते हैं और वह बाह्य प्रभाव है ।

एक स्तर पर वह प्रभाव मात्र है । कब ? जब हम पढ़ते हैं कि बाइरन के पेट में खराबी होती थी, जिसकी वजह से उसे बहुत तकलीफ होती थी और इतनी तकलीफ होती थी, कि दुनिया भर से बेज़ार होकर

वह कविता लिखता था जो तमाम लोगों के ऊपर निष्ठुर व्यंग-बाण बरसाती थी। लेकिन उन कविताओं में शक्ति होती थी और उनमें से बहुतेरा साहित्य ऊँचे स्तर का साहित्य माना गया है और माना जाता रहेगा। तात्कालिक कामों से भी सच्चे साहित्य की सृष्टि हो सकती है, निश्चय-पूर्वक हो सकती है, बार-बार हुई है और बार-बार होगी। और अप्रत्यक्ष कारणों के प्रभाव से सर्जित साहित्य भी निम्न कोटि का हो सकता है, यह केवल तात्कालिक प्रभाव है या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, इस पर ही निर्भर कदापि नहीं करता कि उसके फलस्वरूप जो साहित्य सामने आता है वह किस कोटि का होता है और सचमुच साहित्य होता है कि नहीं। लेकिन, शायद यह बात कहना ग़लत न होगा कि अधिकाँशतः अत्यन्त प्रत्यक्ष और तात्कालिक प्रभाव से जो साहित्य-सर्जना होती है वह अधिकतर साहित्य-सर्जना न होकर केवल एक प्रचारात्मक रचना होकर रह जाती है, शायद यह बहुत ग़लत न हो। अपवाद अनेक हैं, अनेक होते रहेंगे, पर शायद यह बात सही है।

आज हम जो बहुत से प्रभाव अपने साहित्य पर––नए साहित्य पर देख रहे हैं, वह सर्वथा बाह्य हैं, अभद्र हैं और वास्तव में उनके फलस्वरूप जो साहित्य हमारे सामने आ रहा है वह साहित्य नहीं है, कूड़ा-करकट है। इन अभद्र शब्दों के प्रयोग के लिए मैं किसी से क्षमा नहीं माँगता, क्योंकि वास्तव में मैं इसे कूड़ा-करकट ही मानता हूँ। बीटनिक का प्रभाव शुद्ध नकल है, नकल एक ऐसे साहित्य की, एक ऐसे समाज की जिसकी हमारे यहाँ कोई रूपरेखा नहीं है और यदि हम चेष्टा करके उसे अपने यहाँ उत्पन्न नहीं करते तो शायद उसकी कोई सम्भावना भी नहीं है।

और इसी प्रकार हमारी बहुत-सी नई कहानियों में और नई कविताओं में अनेक तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें हम आत्मसात कर ही नहीं सकते, जिन्हें पढ़ने के लिए और आस्वादन के लिए — जिनका पूरा तथाकथित सौंदर्य देखने-समझने के लिए हमें एक प्रकार की विशिष्ट टीका की आवश्यकता होती है। मैं दो दिन पहले की बात आपके सामने रखता हूँ। मैं एक पत्रिका का सम्पादक हूँ जिसका नाम है 'माध्यम'। उसमें प्रकाशनार्थ एक कहानी आई, एक अच्छे जाने-माने नये कहानी लेखक की। वह कहानी मैंने पढ़ी कुछ आशा से क्योंकि उनका अच्छा नाम है और पढ़ने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि वह 'माध्यम' में तो खैर छपेगी ही नहीं, इस कहानी को कहीं न छपना चाहिए और अपने कुछ सहयोगियों और मित्रों को भी मैंने जान-बूझकर वह कहानी पढ़ने को दी कि देखें

उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है। उनमें से एक की—नये साहित्यकार की—प्रतिक्रिया यह थी कि यदि थोड़े से शब्द जो भद्दे हैं, निकाल दिए जाएँ तो वह श्रेष्ठ कहानी हो जाएगी, क्योंकि इसमें एक छिपकली का प्रतीक बहुत ज़बरदस्त है। इस पर मुझे एक चीज याद आ गई। एक अमरीकी आलोचक ने एक पुस्तक लिखी थी "दी मिस्टीरियस सिचुएशन"। उसने अपने प्रतीकों के मोह के बारे में एक पूरा अध्याय लिखा कि उसके पास एक उपन्यास की पाण्डुलिपि आई और उस उपन्यास की पाण्डुलिपि पढ़ने के बाद उसने उस पर अपनी राय लिख भेजी कि यह मेरी राय में कमजोर चीज़ है और उसमें स्पष्ट ही जो कुछ है वह सब प्रतीकों का खेल है, प्रतीकों के माध्यम से बात कहने की कोशिश की गई है और बहुत सी ऐसी बातें प्रतीकों के माध्यम से कही गई हैं जिनके लिए प्रतीकों का माध्यम अपनाना किसी भी कारण न आवश्यक था और न उससे कोई सौंदर्य वृद्धि होती थी। उत्तर में उन्हें एक पत्र मिला। उस लेखक को मालूम हो गया था कि प्रकाशक का रीडर कौन था। तो उसने उस ग़रीब के पास एक पत्र भेजा कि खैर आपने जो राय दी वह दी, आपसे और क्या उम्मीद की जा सकती थी, पुराने आलोचक हैं आप। लेकिन मैं समझता हूँ कि आपने बिल्कुल नहीं समझा कि मेरे उपन्यास में खिड़कियों का और दरवाजों का क्या महत्त्व है। प्रत्येक खिड़की और दरवाजा एक प्रतीक है। अब आप बताएँ कि कौन किस चीज का प्रतीक है। यह सारी चीजें विलक्षण प्रतीकों का बाहुल्य और विलक्षण प्रतीकों का चौंकाने की प्रवृत्ति, नई बात कहने की प्रवृत्ति, वह भी ऐसी नई बात जो कम से कम हिन्दी में न कही गई हो, ये सब छिछला अस्थायी अनुकरण मात्र है एक प्रकार के साहित्य का, जिसे हम किसी-किसी कारण इस समय तक बहुत प्रतिष्ठा देते आए हैं। पर मैं समझता हूँ कि यह सब चिंतित होने की बात नहीं है, क्योंकि निश्चयपूर्वक इसमें जो कुछ अस्वस्थ और बाह्य है, वह अस्थायी ही प्रमाणित होगा। इसके लिए हम बैठकर चिन्ता करें, इसे दूर करने की कोशिश करें, इसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता। विदेशी साहित्य से प्रभावित होना न केवल स्वस्थ है, बल्कि आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु विदेशी साहित्य का अनुकरण करना उतना ही अस्वस्थ है; यह निश्चय बात है। इस प्रकार से जो अनुकरणात्मक साहित्य है वह स्वयं अपनी मौत का पैग़ाम लेकर सामने आता है, चल नहीं सकता। जिस अर्थ में जिस हद तक वह बाह्य प्रभाव रह जाता है, वह विदेशी साहित्य होने के कारण नहीं, बल्कि वह प्रभाव जिस रूप में ग्रहण किया जाता है या उसकी प्रेरणा के फल-

स्वरूप जिस साहित्य की सर्जना होती है, वह अस्वस्थ और क्षीण होता है। "अपने-अपने अजनबी" का नाम लिया गया। मेरी राय में वह एक असफल प्रयास है और उसकी असफलता का मूल कारण यही है कि वह सीधा-सादा एक बाह्य प्रभाव है जो कि पूरी तरह से आत्मसात इतने समर्थ लेखक ने भी नहीं किया। खैर उसके बारे में दो राय हो सकती हैं, लेकिन जिसके बारे में दो राय नहीं हो सकती वह है एक समर्थ प्रसिद्ध कवि गिरिजाकुमार माथुर का नाटक 'अवान्तर ग्रह', उसके बारे में यह दावा किया गया, घोषणा की गई कि वह साइन्स और दूसरे ग्रहों की खोज की नई कोशिश से प्रभावित है और 'साइन्टिफिक नाटक' है। यह 'साइन्टीफिक नाटक' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में गलत था।

उद्देश्य के लिए बहुत-से बाह्य प्रभाव जो हमारे जीवन पर, गति पर, चिन्तन पर, दिनचर्या पर, पड़ रहे हैं, वे अन्ततः साहित्य पर भी पड़ेंगे। जैसे इस समय हमारे जीवन पर वे प्रभाव बाह्य हैं, उसी अनुपात में साहित्य पर भी, हमारे द्वारा सर्जित साहित्य पर भी, बाह्य ही बने रहेंगे। रेडियो, टेलीविजन, फिल्म का प्रभाव निश्चयपूर्वक सर्जना पर भी पड़ता है, क्योंकि इनके कारण जो वातावरण पैदा हो जाता है. जो स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उस स्थिति में, साँस लेने वाला सर्जक, उस स्थिति से, वातावरण से स्वयं प्रभावित होगा ही। रेडियो के लिए साहित्य लिखाया जाता है। कुछ विधाएँ ऐसी हैं जो रेडियो ने स्वयं ही आविष्कृत की हैं। रेडियो नाटक स्वयं एक विधा है। उस विधा का उपयोग करके यदि हम साहित्य को कोई नई समृद्धि दे सकें, जैसा कि इंगलैंड में हुआ है, या फिल्म के द्वारा हम यदि साहित्य को नई चीज दे सकें, कोई नई विधा उत्पन्न कर सकें, किसी नए प्रकार के लेखन का मार्ग-प्रदर्शन कर सकें तब तो उस अर्थ में और उस हद तक वह स्वस्थ है और कल्याणकारी है। लेकिन जिसका मुख्य उद्देश्य प्रसारण है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तद्नुरूप ढाल कर साहित्य की सृष्टि की जाती है तो वह एक बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत होगी, उस हद तक क्षीण होगी। समाचार पत्र, विज्ञापन और इन सबके बीच जो बड़ी भारी शक्ति है, समाज को प्रचारित करने की राजनीतिक शक्ति, उसका प्रभाव हमारे दैनिक जीवन पर, हमारे विचारों पर जैसा पड़ रहा है उसी प्रकार हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है। हम सरकारी अनुदान के लोभ, पारितोषक, सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित किए जाने, सरकारी समितियों द्वारा मान्यता मिलने आदि कई प्रकार

के लोभ से ऐसे साहित्य की सर्जना यदि करते हैं तो ये सारे हमारे ऊपर बाह्य प्रभाव पड़ते हैं। यदि हम लोकप्रियता के लिए लिखते हैं, लोकप्रियता को लक्ष्य बनाकर लिखते हैं तो भी एक बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत लिख रहे हैं। हमारी दृष्टि यदि राष्ट्रीय है, चेतन स्तर पर यदि हम जान-बूझ कर देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को प्रसारित करने के लिए लिखते हैं तो भी बाह्य प्रभाव के अन्तर्गत लिखते हैं। यदि राष्ट्रीय भावना, सामाजिक चेतना, देश-भक्ति, आदि सन्देश हमारे साहित्य से सहज ही निकलते हैं तब और बात है, अन्यथा साहित्य पर यह सब का सब बाह्य प्रभाव ही है। बाह्य प्रभाव मात्र अकल्याणकर है, यह कहना बिल्कुल निरर्थक बात है। क्योंकि साहित्य पर प्रायः सभी प्रभाव बाह्य प्रभाव ही होते हैं। बाह्य प्रभाव, बाह्य प्रभाव ही रह जाएँ, बाह्य प्रभाव ही कहे जाएँ, यह साहित्य की असफलता है और मैं समझता हूँ कि यदि हम बाह्य प्रभावों के प्रति आतंक भाव न रखें, केवल सावधान रहें और अपने साहित्य को बाह्य प्रभावों के लिए समर्पित न होने दें तो यह यथेष्ट है। उसके बाद हममें यदि सर्जना की शक्ति है, यदि हम सचमुच साहित्यकार हैं, तो हम देखेंगे कि वह स्वस्थ साहित्य ही होगा।

★

डा० जयकृष्ण विद्यालंकार

विषयगत समस्या पर विचार करने के लिए बाह्य शब्द को स्पष्ट करना आवश्यक है। वाङ्मय तथा समाज की दृष्टि से यह 'बाह्य' दो प्रकार का है। वाङ्मय की दृष्टि से साहित्य पर साहित्येतर वाङ्मय अर्थात् शास्त्र का प्रभाव पड़ता है और समाज की दृष्टि से जितना भी अभारतीय तत्त्व है वह सब बाह्य है।

राजशेखर ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है—शास्त्र और काव्य।

जहाँ तक लक्ष्य का सम्बन्ध है साहित्य और काव्य में विशेष अन्तर नहीं। शास्त्र का लक्ष्य 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम' है और काव्य या साहित्य का लक्ष्य भी साहित्यदर्पणकार के अनुसार—

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन काव्यरूपं निरूप्यते॥

—तथा काव्यप्रकाशकार के अनुसार —

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

इस प्रकार साहित्य का उद्देश्य भी 'चतुर्वर्गफल प्राप्ति' तथा 'सद्यः पर निर्वृति' है। यहाँ पर चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में धर्मानुशासित

अर्थ और काम ही मोक्ष का विधायक है, इसी प्रकार यश, अर्थ, व्यवहार और शिवेतरक्षति का लक्ष्य 'सद्यः पर निर्वृति' ही है।

शास्त्र तथा साहित्य का लक्ष्य एक होते हुए भी इनमें अन्तर यह है कि शास्त्र सामान्य-जन के लिए दुर्बोध है। तत्त्वज्ञान का अधिगम विलक्षण मेधावी और प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिए भी दुःसाध्य है। इसलिए सामान्यजन के लिए शास्त्र के माध्यम से निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव नहीं है, इसके विपरीत साहित्य के द्वारा अल्पधीजन भी सुख से शास्त्र का फल प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः शास्त्र जिस विषय-वस्तु को बुद्धि-तत्त्व की सहायता से विश्लेषण करके उसके सम्बन्ध में दुर्बोध तथा सूक्ष्म तत्त्वज्ञान प्रदान करता है, उसी विषय-वस्तु को काव्य हृत्तत्त्व की सहायता से सरस बनाकर सहृदयों की भावनाओं को आन्दोलित करता है।

साहित्य की दूसरी विशेषता, जो उसे शास्त्र से पृथक् करती है, 'कान्तासम्मिततयोप-देशयुजे' है। श्रुति आदि अपौरुषेय शास्त्र प्रभुसम्मिततया और पुराण आदि पौरुषेय शास्त्र मित्र सम्मिततया उपदेश करते हैं। किन्तु साहित्य तो 'कान्तसम्मिततया' उपदेश करता है। सामान्यजन में कान्ता के समान साहित्य के प्रति स्वाभाविक अभिरुचि और अनुराग रहता है। परिणामतः इस चराचर जगत् से वस्तु विषय लेकर साहित्य उसे ऐसी अलौकिक प्रविधि से अभिव्यक्त करता है कि वह न केवल अल्पधीजनों के लिए सुग्राह्य हो जाती है, अपितु सामान्यजन में उसके प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति और आकर्षण भी उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि के कठिन तथा नीरस मार्ग से शास्त्र जिस लक्ष्य तक पहुँचाता है, साहित्य उसी लक्ष्य तक सरस एवं मनोहारी मार्ग से पहुँचा देता है। इस प्रकार साहित्य और अविभाज्य रूप से सम्पृक्त हैं और दोनों में परस्पर प्रभावों का आदान-प्रदान अनिवार्य तथ्य है।

साहित्य के लिए विषय-वस्तु का दूसरा स्रोत साहित्य-स्रष्टा के सम्पर्क में आने वाला समस्त चराचर विश्व है। साहित्यकार व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी अप्रभावित नहीं रह सकता। सैकड़ों वर्षों तक पराधीन रहने के कारण इस देश के निवासियों के अन्तःकरण में आत्महीनता का भाव घर कर गया है। आत्महीनता के कारण हमारा आत्मविश्वास जाता रहा है। हमारी इस सांस्कृतिक हीनभावना के क्षय रोग की चिकित्सा करने का सबसे बड़ा प्रयत्न १९वीं शती में ऋषि दयानन्द

ने किया। उन्होंने सांस्कृतिक समरांगण में जातीय उद्‌बोधन का शंखनाद किया। इसी प्रकार का दूसरा प्रयत्न महात्मा गांधी ने किया और विदेश में शिक्षा पाकर भी वेषभूषा, रहन-सहन और आचार-विचार में भारतीयता के प्रति उनका अटूट आग्रह रहा। आश्चर्य तो यह है कि स्वतन्त्र होने के बाद हमारी यह सांस्कृतिक हीनता की भावना कम होने के बजाय अधिक प्रवृद्ध हुई। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारी साहित्य और संस्कृति की पाचन-शक्ति नष्ट हो गई। बाह्य-तत्त्व को ग्रहण करके उसमें अपने साहित्य और संस्कृति के जीवन-रस को मिलाकर आत्मसात करने की क्षमता नष्ट हो गई और हमारा साहित्य बाह्य प्रभाव में दब गया।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि बाह्य को किस प्रकार और कहाँ तक आत्मसात् किया जा सकता है अर्थात् साहित्य शास्त्र तथा विश्व की परिस्थितियों का प्रभाव कहाँ ग्राह्य है? जहाँ तक बाह्य प्रभाव से साहित्य अपने 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः' तथा 'सद्यः परनिर्वृत्ति' उदात्त लक्ष्य से च्युत नहीं होता और साहित्य का साहित्यत्व अर्थात् 'सुखादल्पधियामपि' तथा 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की विशिष्ट प्रविधि में क्षीणता नहीं आती वहाँ तक साहित्य में बाह्य प्रभाव उपयुक्त है और उससे घबराने की कोई बात नहीं है। यदि बाह्य प्रभाव अर्थात् शास्त्र तथा समाज के प्रभाव से साहित्य का चरम लक्ष्य और साहित्य का भाव ही नष्ट हो जाय तो वह प्रभाव असह्य है। इसी युग से जिन मनीषियों ने भारतीय विचार-पद्धति से चिन्तन किया उन्हें विश्व में मूर्धन्य स्थान मिला और उनके साहित्य को विदेशी भी श्रद्धा के साथ पढ़ते हैं, वे हैं---ऋषि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गान्धी। हिन्दी के भक्तिकाल का साहित्य सर्वोच्च तथा सर्वाधिक गौरवपूर्ण है। इसका मूल कारण यह है कि तुलसी और सूर सरीखे कान्तदर्शी प्रज्ञावान् कवियों ने साहित्य के उदात्त लक्ष्य को समक्ष रखकर इतिहास के परम-प्रेरणा-स्रोत चरित्रों की कथावस्तु को भाव और कला के ताने-बाने में इस प्रविधि से बुना कि जिसके आलोक से हिन्दी साहित्य ही नहीं, अपितु समस्त विश्व साहित्य जगमगा उठा और सम्पूर्ण मानवता ने उसमें व्यष्टि और समष्टि के अलौकिक प्रतिविम्ब की झलक देखी। इन कवियों का साहित्य किसी कालविशेष की सीमा में आवद्ध नहीं है, अपितु देशकाल निरपेक्ष सार्वजनीन भावसत्य को प्रतिष्ठापित करने के कारण यह सार्वदेशिक सार्वकालिक तथा सार्व-लौकिक प्रभाव को प्रक्षिप्त करने वाला है। ऐसे ही कवियों के लिए कहा है—

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥"

इसके बाद रीतिकालीन कवियों ने रीतिविषयक प्रविधि का कितना भी अच्छा विवेचन क्यों न किया हो और कला की कितनी भी कलाबाज़ियाँ क्यों न दिखाई हों, किन्तु उन्होंने साहित्य को उदात्त लक्ष्य से च्युत करके उसे 'अर्थकृते' तक ही सीमित बना कर तत्कालीन सामन्तों और दरबारियों की कलुषित कामवासना को उद्दीप्त करने का साधन बना दिया। इस काल के साहित्य में जो बाह्य कामशास्त्र का प्रभाव पड़ा, उसके कारण साहित्य संकीर्ण और कलुषित वासनाओं का साधन मात्र बन गया।

आधुनिक युग के विषय में यहाँ पर कुछ कहने का अवकाश नहीं है। कारण यह है कि इस युग का साहित्य अभी अपने निर्माण की प्रक्रिया में से गुजर रहा है। यद्यपि इस काल में साहित्य की धारा शतधा विधाओं में प्रवाहित हो रही है, तथापि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय मनीषी पश्चिम से आने वाली इन विधा-रूप प्रणालियों तथा उनमें प्रवाहित होने वाले ज्ञान-विज्ञान की धाराओं से असन्तुष्ट होकर खोया-खोया सा इतस्ततः भटक रहा है और साहित्य की वह डोर उसके हाथ से छूट गई है, जिसे वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी और सूर ने पकड़ा था। आधुनिक साहित्यकारों में केवल जयशंकर प्रसाद ने ही उस डोर को कुछ दूर तक थामने का प्रयत्न किया है। यदि आधुनिक भारतीय साहित्य अपने परम्परागत लक्ष्य की डोर को दृढ़ता से साधकर पाश्चात्य विज्ञान-दर्शन, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र आदि के प्रभाव को अपनी प्रज्ञा में आत्मसात् करके उसे 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के आलोक में मौलिक प्रविधि से अभिव्यक्ति करेगा, तभी और केवल तभी भारतीय साहित्य की स्वस्थ परम्परा पुनः प्रतिष्ठित हो सकेगी।

★

डा० वी. एस. नरवणे

जिस विस्तृत विषय पर यह गोष्ठी हो रही है उसके अंतर्गत उठाये गये महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में केवल एक के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ—वह है राष्ट्रीयता का प्रश्न। इसमें कोई संदेह नहीं कि सांस्कृतिक जीवन में बाह्य प्रभाव का सबसे अवांछनीय और चिंताजनक पक्ष यह होता है कि साहित्यकार, कलाकार और विचारक की राष्ट्रीयता चेतना कमजोर हो जाती है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में उस दयनीय परिस्थिति का उल्लेख किया जिसमें हम आज के कुछ साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह परिस्थिति बाह्य विचारधाराओं, शैलियों और मूल्यों की अनुकृति से, उससे संबंधित हीन-भावना से उत्पन्न हुई है।

लेकिन इस विषय में की गई एक स्थापना से मैं सहमत नहीं हूँ। वह स्थापना यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के अत्यधिक आकर्षण से संस्कृति का राष्ट्रीय आधार हमें विस्मृत हो चला है। मैं इस स्थापना से भी बहुत संतुष्ट नहीं हूँ कि अब तक भारतीय संस्कृति जरूरत से ज्यादा समन्वयशील, ग्रहणशील रही है और अब हमें संघर्ष की आवश्यकता है। मुझे भय है कि यदि इस धारणा को गहराई से देखें तो हमें उसमें उग्र राष्ट्रीयता के बीज मिलेंगे।

इस सम्बन्ध में दो प्रश्न स्पष्ट रूप से पूछे जा सकते हैं। पहला यह कि क्या वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना ने अवांछनीय बाह्य प्रभाव के लिए द्वार खोल दिया है और हमारी संस्कृति को राष्ट्रीय भावना की शक्तिदायिनी धारा

से अलग कर दिया है ? दूसरा प्रश्न यह कि क्या वास्तव में भारतीय परंपरा में इतनी अधिक सहिष्णुता, इतनी अधिक ग्रहणशीलता रही है कि उसको घटाना जरूरी है ?

मैं समझता हूँ कि दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है। परिस्थिति का वर्णन कुछ इस तरह किया गया है कि एक ओर गांधी, दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ; एक ओर विश्वबन्धुत्व की कल्पना दूसरी ओर देशभक्ति और राष्ट्राभिमान। दोनों अपनी-अपनी जगह पर मूल्यवान हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीयता का पलड़ा अब ज्यादा भारी हो गया है और इसलिए दूसरे पलड़े का वजन बढ़ाना चाहिये। लेकिन क्या इस वर्णन के पीछे यह विचार नहीं है कि राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता, बाह्य और आंतरिक, परस्पर विरोधी शक्तियाँ हैं जिनमें से हमें एक का वरण करना है ? यह विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जाता, लेकिन वह अचेतन में छिपा हुआ है जरूर। यदि कोई साफ-साफ उसे व्यक्त करे तो शायद हममें से अधिकतर उसे अस्वीकार करेंगे। दुनियाँ के हर देश के सांस्कृतिक इतिहास में रचनात्मक और गौरवमय युग वे ही रहे हैं जब राष्ट्रीय भावना विकसित होकर विश्वभावना की भावना में परिणत हुई। भारत के पिछले सौ वर्ष के इतिहास में भी हम यही देखते हैं। इस दृष्टि से गांधी और रवीन्द्रनाथ में उतना मतभेद नहीं था जितना कि ऊपरी तौर पर लगता है। गांधीजी स्वयं कहा करते थे कि उनका दर्शन सर्वमान्य, सरल मानवीय मूल्यों पर आधारित था, यद्यपि राजनैतिक परिस्थितियों ने उन्हें इस बात पर विवश कर दिया था कि वे अपना ध्यान और कार्य की परिधि भारत तक सीमित रखें और रवीन्द्रनाथ की अन्तर्राष्ट्रीयता में उनकी विशुद्ध भारतीयता से तिल-मात्र क्षति नहीं हुई।

दूसरी स्थापना मेरी दृष्टि में और भी अधिक खतरनाक है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि भारतीय संस्कृति में केवल समन्वयशीलता और ग्रहणशीलता की ही प्रकृति काम करती रही। साहित्य में और संस्कृति के दूसरे क्षेत्रों में हमने दूसरों की देन को सर्वदा स्वीकार ही किया हो, उसके मूल्य को समझा हो, ऐसी बात नहीं है। व्यापक रूप से भारतीय चेतना में एक लचीलापन और समायोजन शक्ति अवश्य रही है और उसी ने हमारी संस्कृति की रक्षा की है। लेकिन उसके विपरीत संकीर्णतावाद, बाह्य प्रभावों के प्रति संदेह और अपने-आपको सर्वथा परिपूर्ण मानने की प्रवृति भी हम में रही है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। स्वामी विवेकानन्द से एक बार किसी ने पूछा

कि भारत की अवनति कब से शुरू हुई ? उन्होंने कहा उस दिन से जब इस देश में म्लेच्छ शब्द का आविष्कार हुआ होगा। यह कहना कि हम अत्यधिक उदारतावादी रहे हैं, हमें अपने आपको धोखा ही देना होगा। एक ओर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' दूसरी ओर समुद्र पर्यटन के बाद घोर प्रायश्चित्त, एक ओर यह कहना 'सबार ऊपरे मानूष गहाँ ईजर० नाई,' दूसरी ओर यह कि 'उन्मत्त हाथी भी पीछा करता हो तो बौद्ध विहार में शरण मत लो'।

इस संकीर्णता और संकुचित मनोवृत्ति से हमारा प्रत्येक युग में नुकसान हुआ है। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म के क्षेत्र में हमारे विद्वान, हमारे स्कॉलर भी इस मनोवृत्ति से अलिप्त नहीं रहे। माना कि कभी-कभी उनके विचार पाश्चात्य विद्वानों के प्रत्युत्तर के रूप में व्यक्त किये गये। जब यह कहा गया कि भारत में जो कुछ है यूनान से आया है, बुद्धमूर्ति की धारणा एथेन्स के नवयुवक को देखकर किसी यूनानी कलाकार के मन में उत्पन्न हुई, भरत के नाट्यशास्त्र में अरस्तू के पोएटिक्स का गहरा प्रभाव है इत्यादि, तो स्वाभाविक था कि हमारे आलोचक और अनुसंधाता भारतीय संस्कृति की मौलिक सफलताओं पर जोर देते हैं। लेकिन वे केवल इतना ही कहकर चुप नहीं हो गये। उन्होंने यह भी कहा कि भारतीय संस्कृति एक (Closed system) है जिसे किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता ही नहीं रही है। उनकी दृष्टि में भारत संस्कृति और आध्यात्मिकता का साहूकार है और बाकी दुनियाँ कर्जदार। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ चीनी, यूनानी, फारसी और अरबी में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद बहुत प्राचीन काल से किया गया है, हमारे देश में अन्य देशों के धर्मग्रन्थों या साहित्यिक कलाकृतियों का अनुवाद करने की प्रेरणा अठारहवीं शती तक किसी को नहीं हुई। आज भी भारतीय विद्वान संस्कृति के विषय में अक्सर ऐसी बात कह बैठते हैं जो चौंकाने वाली होती है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक विवेकशील साहित्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह दोनों खतरों को ध्यान में रक्खे— इस खतरे का भी कि सब बाह्य बाह्य ही न रह जाये, और इसका भी कि राष्ट्रीयता के नाम पर हम असहिष्णुता को स्थान न दे बैठें। आधुनिक युग में भारत में रवीन्द्रनाथ का उदाहरण हमारे सामने आता है जिन्होंने कहा कि 'देरे दरो मोर देश आबे' और ऐसे भी उदाहरण आते हैं जब साहित्यिक यह कहता है कि इक़बाल की कविता भारतीय नहीं है, क्योंकि उसमें रामायण-महाभारत का उल्लेख नहीं है, कृष्णमूर्ति के विचार भारतीय नहीं हैं क्योंकि वे मैक्सिको में बहुत समय बिताते

हैं, जवाहरलाल नेहरू भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि नहीं हैं, क्योंकि वे लन्दन में सूट पहन लेते थे। वह युग कब का बीत चुका है जब हम विदेशियों की प्रशंसा से गद्‌गद् हो जाते थे, जब उपनिषदों की महानता इस बात से प्रमाणित की जाती थी कि शॉपेनहावर उन्हें अपने सिरहाने रखकर सोता था। अब भय यह है कि हम विपरीत दिशा में चले जायें और अपना संतुलन खो बैठें। यह एक बहुत बड़ी ट्रेजेडी होगी, क्योंकि एक भूल का सुधार विपरीत भूल से नहीं किया जा सकता।

★

डॉ० विश्वनाथ अय्यर

सृजन और समीक्षा साहित्य के दो सहचारी बन्धु हैं। ये एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। अगर एक ही को आगे बढ़ने दिया जाए तो वह अधूरा या लंगड़ा रह जाएगा। सृजनशील लेखक भी स्वयं पढ़-पढ़ कर समीक्षक बनकर अपनी रचना की परीक्षा करता है। यह परीक्षा उसे अपनी रचना को सुधारने का मौका देती है। समीक्षा का यह कार्य साहित्य की वृद्धि में लाभदायक रहा है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि साहित्य को समाज का दर्पण यदि माना जाए तो समीक्षा साहित्य का दर्पण कहला सकती है। इसलिए यह परिसंवाद वर्तमान साहित्यकार को अपनी सच्ची स्थिति का पूरा परिचय देने में सहायक रहेगा। इस मूल्यांकन से लाभ उठाकर साहित्यिक बन्धु नया कदम रख सकते हैं, नया मोड़ शुरू भी कर सकते हैं।

आज के विषय में भारतीय साहित्य शब्द से तात्पर्य दो प्रकार का हो सकता है। एक भारत की चौदहों भाषाओं के साहित्य और दूसरा भारत को एक व्यापक धरातल मानने से बना हुआ व्यापक भारतीय साहित्य धर्म। "भारतीय" शब्द एक परम्परा का बोधक है। अनेक बाहरी आक्रमणों के होने और भीतर ही देश के खंडित रखने पर भी भारत की एकता "भौगोलिक" और अन्य कारणों से बनी रही है। फिर भी इसके विभिन्न प्रान्तों, खंडों और भाषाओं के अस्तित्व को हम पहचानते-मानते हैं। अतएव भारतीय साहित्य की समस्याओं का मतलब इन विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक समस्याओं

से भी है। आज कोई अखिल भारतीय भाषा साहित्यिक दृष्टि से नहीं है। मैंने 'साहित्यिक दृष्टि से' शब्द का प्रयोग विशेष जोर देकर किया है। हिन्दी व्यवहार की दृष्टि से सभी भारतीय प्रान्तों में बोली और समझी जाती है। किन्तु वह संपूर्ण भारत की साहित्यिक प्रतिनिधि नहीं बन सकी है। हम लोग अभी उस दशा में पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हैं। अतएव भारतीय साहित्य अभी भारतीय भाषाओं का साहित्य है। मैं अपने विचारों के उदाहरण के लिए हिन्दी और मलयालम का ही सहारा लेना चाहता हूँ। इसका कारण यह है कि केरल राजनीति, अर्थनीति आदि में पूरे हिन्दुस्तान में बराबर परिवर्तित होता आया है। मलयालम की सभी धाराएँ सुपुष्ट हैं पर काव्यधारा आकार में छोटी होने पर भी बौद्धिकता और सबलता की दृष्टि से ठोस निकलती है। अतएव मलयालम की साहित्य-धाराओं में से कविता पर ही अधिक निर्भर रहना चाहता हूँ।

साहित्य पर कई तरह के बाह्य प्रभाव पड़ सकते हैं। इस 'बाह्य' शब्द की अर्थव्याप्ति इतनी ही विशाल हो सकती है। मैं तो यहाँ केवल मानवीय रागात्मक सम्बन्ध के वर्णन को शुद्ध साहित्यिक धर्म मानता हूँ। इस धर्म के सिवा जो भी राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अन्य धर्म या प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अंगों पर पड़ता है, उसे बाह्य प्रभाव मानना उचित भी समझता हूँ। इस दृष्टि से विचार के लिए मैंने मलयालम साहित्य के माध्यम को स्वीकार किया है। मलयालम का उल्लेख यह दिखाने के लिए भी करना चाहता हूँ कि भारत की सभी भाषाएँ बाह्य प्रभाव की दृष्टि से एक-सी या समकक्ष नहीं हैं। उसके स्वरूप एवं मात्रा में अन्तर अवश्य देख पड़ता है।

जब मैं चौथे दर्जे में पढ़ता था तब एक छन्द हम लोग बड़े प्रेम से सीखते थे। उसे सही उतार-चढ़ाव से सुनाने वाला छात्र होशियार समझा जाता था। गीत था अँग्रेजी का। आप जान गये होंगे कि वह गीत है "God Save the King" हिन्दुस्तान के एक कोने के केरलीय गाँव के हम बच्चे भगवान से प्रार्थना करते थे कि हे परमात्मा, सात समुन्दर पार रहने वाले जार्ज पंचम सम्राट को सही सलामत रखना। यह मलाबार की बात रही। ट्रावन्कोर में हम भगवान को इतना कष्ट देना नहीं चाहते थे। हमारी प्रार्थना थी कि वंचिराज्य के अर्थात् ट्रावन्कोर के शासक की जय हो—

वंचिभूमिपते चिरम् संचिताभम् जयिक्केणम् ॥

अब सारे लोग एक साथ एक ही काम भगवान से कहते हैं "जन गण मंगल दायक जय हे भारत भाग्य विधाता" ताकि जन गण का मंगल हो। न सात समुन्दर पार के सम्राट जार्ज का, न वंचिराज्य के शासक का, किन्तु जनगण का। यह परिवर्तन मामूली नहीं है। न यह आप-ही-आप हुआ है। इसके लिए वर्षों तक हजारों प्रतिभाशील और बलिदानी स्त्री-पुरुषों ने साधना की थी। इस बलिदानी पीढ़ी की कहानी यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि आप सब भली भाँति उससे परिचित हैं। यहाँ एक प्रश्न हमारे लिए प्रसंगोचित है। क्या बलिदानी वीरों के त्याग व कष्ट सहन का पूरा प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है? वे बलिदान कुछ कम नहीं थे। एक ओर भगतसिंह जैसे बहादुर शहीद हुए। दूसरी ओर अनेक युवक जेल के भीतर सड़ते गये। उनके परिवार-वालों को भूखा रहना पड़ा। इन सब घटनाओं की पृष्ठ-भूमि में कितने महा-काव्य हमारी भाषाओं में लिखे गए हैं? कितने मेधावियों की प्रतिभा ने इस विशाल पट पर अपने काव्य-चित्र अंकित किये हैं? इस प्रश्न का उत्तर मैं अन्य भाषाओं के विषय में नहीं दे सकता। हिन्दी में मैंने ऐसे थोड़े से काव्य पाए हैं, महाकाव्य नहीं। अपनी भाषा मलयालम में ऐसे महाकाव्य नहीं हुए, यह दुखपूर्वक मुझे कहना ही पड़ रहा है।

मेरा मतलब देश-प्रेम की छोटी कविताओं या खंडकृतियों से नहीं है। इस दिशा में तो अनेक कवियों ने उत्तम कृतियाँ रची हैं। हिन्दी में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी,' सोहनलाल द्विवेदी के 'उद्बोधनात्मक गीत'। माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' जैसी व्यंग्यप्रधान तीव्र कविताएँ देश प्रेम की रचनाएँ हैं। हमने पढ़ा है कि राष्ट्रीय जागरण के उन दिनों में मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' सारे देश प्रेमी युवकों को कंठस्थ थी। देश-प्रेम के हो वातावरण में रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' आदि खंडकाव्य हुए। कई कवियों ने प्राचीन ऐतिहासिक भारतीय वीरों की गरिमामय कथाएँ काव्य-बद्ध की हैं। राणा प्रताप, वीर शिवाजी, रानी पद्मिनी आदि स्वाभिमानी वीर व्यक्तियों की कथाएँ देश-प्रेम की भावना के ही कवियों ने इस युग में दुहराईं। ये सारी प्रवृत्तियाँ मेरे खयाल में सभी भारतीय भाषाओं में रही होंगी। मलयालम में तो अवश्य रही हैं। आधुनिक युग के देश प्रेम के कवि के रूप में केरल में स्व० वल्लत्तोल का नाम सबसे प्रशस्त रहा है। उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन की कई घटनाओं को लेकर कविताएँ लिखीं। उन्होंने शिवाजी जैसे वीर पुरुषों के जीवन की घटनाएँ भी कविताओं में वर्णित कीं। आशान, उल्लर, शंकर कुरुप आदि ने भी ऐसी कृतियाँ रचीं।

अब केरलीय स्वाधीनता आन्दोलन पर दो शब्द कहूँ। भारत-व्यापी स्वाधीनता आन्दोलन केरल में काफी दिनों के बाद ही शुरू हुआ अर्थात् सन् १९२० ई० में। यहाँ ट्रावन्कोर व कोचीनदो रियासतें थीं। मलाबार में स्वाधीनता का मतलब अँग्रेज सरकार से संघर्ष से था। लेकिन रियासतों में उसका स्वरूप राजाओं के अधीन जनवादी शासन का था। केरल में भी सैंकड़ों सज्जनों ने लाठी की चोट व काल कोठरी का कष्ट पाया। जगह-जगह पर गोलीकांड भी चले। ये सब घटनाएँ मानवीय करुणा को उमड़ाने वाली, शोक को 'श्लोकत्व' देने के लिए पर्याप्त थीं। फिर भी प्रचारात्मक उद्वोधन गीत, सूचना कहलाने लायक इतिवृत्तप्रधान कविताएँ और प्रतीकों के सहारे जागरण की भावना जगाने वाली कुछ रचनाएँ ही हुईं। स्वाधीनता-आन्दोलन का विशाल चित्रपट अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका में खींचने या कुछ उदात्त मानव पात्रों की कल्पना कर प्रशस्त महाकाव्य लिखने का प्रयत्न केरल में नहीं हुआ। शायद यही भारत भर की स्थिति रही है। इसी अप्रिय तथ्य के आधार पर गत वर्ष तिरुवनंत पुरम में सम्पन्न समस्त केरल साहित्य परिषद का उद्‌घाटन करते हुए हमारे आदरणीय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने कहा था कि भारत के स्वाधीनता संग्राम जैसे राष्ट्रीय महत्त्व की महान घटना की पृष्ठ-भूमि में पर्याप्त गरिमामय काव्यों की रचना अभी नहीं हुई, वह होनी चाहिए।

देश प्रेम की भावना और स्वाधीनता-आन्दोलन ने वास्तव में हमारे देश के लोगों को ऐसा झकझोरा नहीं है, सबकी स्नायुओं पर आघात नहीं किया है। जो आघात हुआ वह जोरदार रहा जरूर, पर केवल क्षणिक या कुछ दिनों का था। इसलिए स्वाधीनता-प्रेम और देश-भक्ति-धारा का प्रवाह कुछ उथला-सा रह गया। गहरी धारा का उदाहरण हमारी कठोर धार्मिक आस्था है। अब भी देश और धर्म अर्थात्-धर्म के आचरण में द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ। अनेक लोग धर्म के प्रति अपनी आस्था व ईमानदारी को ज्यादा महत्त्व देते हैं। देश भक्ति धारा के उथलेपन और काव्य में उसकी लय के अभाव का प्रमाण हमारे सामने है। स्वाधीनता-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में कम से कम 'झाँसी की रानी' 'बंदी और कोकिला', 'बादल राग' जैसी विचारोत्तेजक कृतियाँ लिखी गयीं। लेकिन अभी चीनी आक्रमण की पृष्ठ-भूमि में देश की जनता को जगाने के लिए जो सैकड़ों कविताएँ और गीत रचे गये हैं उनमें आवाज का जोर, कठोर वर्णों की हुँकार और आह्वान का हुँकार ही अधिक था, हृदय तक पहुँचने वाली जागरण की पुकार कम थी। अगर युद्ध-क्षेत्र में एक हलकी सी चोट

खाये हुए सच्चे कवि इस भूमिका पर काव्य लिखते तो उनमें जान होती, प्रेरणाजनक स्फूर्ति होती।

भारत के राष्ट्रीय साहित्य के अंधकारमय पक्ष पर प्रकाश डालने से यह भ्रम हो सकता है कि स्वाधीनता आन्दोलन हमारे साहित्यक स्वरूप गढ़ने में सहायक नहीं रहा। हम हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप विलासी व शृंगारी काव्य की समाप्ति का दृश्य देखते हैं। प्रेम और उसके संचारी भावों के प्रसार-संकोच का वर्णन करने की संकुचित और अवांछनीय प्रवृत्ति राष्ट्रीय जागरण के बाद तिरस्कृत होने लगी।

साहित्य के केवल व्यक्ति से सम्बन्ध की धारणा छोड़कर समाज से भी उसका सम्बन्ध दृढ़ बना देने की प्रवृत्ति इस नये राष्ट्रीय जागरण के साहित्य में प्रारम्भ हुई। दूसरे शब्दों में साहित्य में जनवादिता का समावेश इस नयी प्रवृत्ति का सुफल था, मलयालम में शृंगार और विनोद के लोकों तथा महाकाव्यों के युग के पश्चात् देश-प्रेम का युग आया। महाकाव्य रामायण, महाभारत, भागवत आदि पुराणों के कथापात्रों की कथाओं पर आश्रित थे। जन जीवन का उन काव्यों से सम्बन्ध नहीं के बराबर था। देश व व्यक्ति का एक दूसरे से सम्बन्ध और दायित्व इन नयी रचनाओं में वर्णित होने लगा। इससे साहित्य गगन और अट्टालिका से धरती पर उतर आया। कविगण लोगों का ध्यान राष्ट्र की सामयिक समस्याओं की ओर आकृष्ट करने में भी सफलता पाने लगे। वर्तमान भारत में जन जागरण का सशक्त माध्यम निःसंदेह पत्रिकाएँ व पुस्तकें हैं। इन पत्रिकाओं-पुस्तकों के ज़रिए स्वाधीनता का विचार फैलाकर मलयालम के साहित्यिकरों ने सराहनीय सेवाएँ की हैं।

भारत के स्वाधीन होने से उसके अन्य प्रान्तों के समान केरल भी स्वतंत्र हो गया। यहाँ भी जनवादी शासन का जमाना आया। केरल के विषय में राजनीतिक क्षेत्र कुछ जटिल-सा रहा है। क्योंकि यहाँ राष्ट्रीय महासभा के अलावा वामपक्षी राजनैतिक विचारों का साम्यवादी दल भी क्रियाशील रहा है। भारत के साम्यवादी केन्द्रों में बंगाल, केरल व आंध्र काफी प्रसिद्ध हैं। इस उग्र वामपक्षीय विचारों का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना कैसे रह सकता है? यों तो सन् १९३४ ई० से सारी भारतीय भाषाओं में प्रगतिवादी प्रवृत्ति शुरू हो आयी। केरल का वातावरण इसके विशेष अनुकूल था। इससे यहाँ भी किसान-मजदूर के जागरण और सोवियत रूस की प्रशंसा काव्यविषय बन गई। लोकप्रिय कवि 'चंगम् पुषा' का एक उद्धरण सुनिये।

कुंकुम का तिलक लगाने वाले निज कर में
लोहित झण्डा लेकर चलती ओ रमणियो।
शन्कालव छोड़ तुम आगे आगे बढ़ो।
कल के शुभ भविष्य के अंकुरो।
वैदिकों की दार्शनिक वाणी सुनकर
घबराने वाले हे श्रमिक जनो।
मस्त बने सठियाये जीर्ण शीर्ण धर्मों का
मस्तक तुम तोड़ फोड़ दो।

विध्वंस और क्रांति की वाणी में सहज ही एक आकर्षण होता है। रचनात्मक और अच्छी हितकारी बातें सुनना-सुनाना लोगों को उतना प्रिय नहीं होता जितना कि समालोचनात्मक या विद्रोहात्मक बातें सुनाना है। इन बातों का प्रभाव भी अत्यन्त शीघ्र पाठक पर पड़ता है।

केरल की सामाजिक व्यवस्था में पहली सत्ता भूस्वामियों की थी। दूसरी तो धर्म की रही। तीसरी सत्ता शासन की जो प्रायः प्रथम दो सत्ताओं के हित में सदा कार्य करती थी। साम्यवाद सभी परंपरागत सत्ताओं के विरुद्ध क्रांति का संदेशवाहक रहा है, जिनके दबाव में रहे उनसे छूटने और अपनी सत्ता बढ़ाने का मौका साम्यवाद में पाने से इसका संदेश फैलाने वाली प्रगतिवादी साहित्यधारा का प्रभाव किसान, मजदूर, देहाती अछूत, शहर की गंदी गलियों में रहने वाले लोग आदि पर जबरदस्त पड़ा। वे ही साम्यवादी दल में बड़ी भारी संख्या में भरती हुए।

साम्यवाद का प्रभाव बुद्धिजीवी निम्न मध्यवर्ग पर भी पड़ा है। तभी तो दफ़्तरों, पाठशालाओं और कारखानों में अब हड़ताल प्रदर्शन आदि होते हैं। उनको भी प्रगतिवादी साहित्य से प्रेरणा मिली। प्रगतिवादी काव्य आदि के रचयिता अधिकतर वही निम्न मध्यवर्ग के लोग हैं। कभी-कभी उच्च मध्यवर्ग के थोड़े व्यक्ति भी सहानुभूतिवश प्रगतिवादी बातें लिखते हैं। किन्तु वे उच्च मध्य वर्ग के लोग प्रगतिवादी रचनाओं को हृदय से बढ़ावा नहीं देते। उनपर इन विचारों का अनुकूल असर नहीं पड़ता, क्योंकि उनका स्वार्थ खतरे में रहता है।

देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात त्याग व तपस्या की भावना कम होती गई। स्वार्थ व धन प्राप्ति की प्रवृत्ति बढ़ी। राजनैतिक दृष्टि से सरकार ने साम्यवादियों को अपना शत्रु समझा। साहित्यकारों में अधिकतर लोगों ने सरकार के क्रोधपात्र साम्यवाद की कृतियाँ लिखने के बजाय सांस्कृतिक और

मानवतावादी मानवीय उदात्त-भावनाओं की कृतियाँ रचना पसंद किया। साम्यवाद के समानान्तर अन्य वामपक्षी समाजवादी दलों का प्रारंभ भी लेखकों के साम्यवादी दल से, छूटने के कारण हुआ। केरल में ही केशवदेव, सी० जे० थामस, भास्करन, ओ० एन वी० कुरुप जैसे अनेक प्रगतिवादी विचारों के थे। लेकिन राजनैतिक विचारों के परिवर्तन और साम्यवादी राजनीति से विरक्ति के कारण उन्होंने वह प्रवृत्ति छोड़ दी। स्वतंत्र रूप से वे लिखते गये।

साम्यवादी राजनीति का केरल के जीवन-क्षेत्र पर एक नया सशक्त प्रभाव पिछले साम्यवादी शासन-काल में पड़ा था। थोड़े से महीनों तक ही वह जारी रहा फिर भी प्रगतिवादी साहित्यकार की आस्था नये सिरे से जग ही उठी। प्रगतिवादी साहित्यिक पत्रिकाओं में नई जान आई। प्रगतिवादी विचार रखने वाली कला-समितियाँ केरल में उदय हुईं। शासकीय अधिकार पाने के कारण प्रगतिवादी लोगों का साहित्य में सम्मान बढ़ा। यह परिवर्तन सचमुच आश्चर्य-जनक और समाज के स्वार्थ की हीनप्रवृत्ति का कुछ-कुछ परिचायक था। आसार यही थे कि यदि वामपक्षीय दल का शासन चालू रहता तो प्रगतिवादी साहित्य अधिक जोर पाता। किन्तु शीघ्र ही 'विमोचन समर' के नाम से आंदोलन हुआ और साम्यवादी सरकार खतम की गई। सरकार के नीचे गिरने पर भी साम्यवाद की प्रवृत्ति रही। अभी सारे हिन्दुस्तान में जो दक्षिण-वाम का अन्तर साम्यवादियों में बना है उसका प्रभाव केरल में भी है। जो भी हो, समाज-वादी एवं साम्यवादी राजनैतिक विचारधाराओं ने साहित्यकार की पुरानी रूढ़ियों, धारणाओं तथा मान्यताओं पर गहरी चोट की है। सामाजिक मान्यता को ललकारने वाले, क्रांतिशील कथापात्र एवं व्यापारी-व्यावसायिक क्षेत्रों की पृष्ठ-भूमि आजकल मलयालम साहित्य में बराबर मिलती है। खासकर कथा-साहित्य में यह विशेषता पाई जाती है। साम्यवादी शासन और उसके भंग की परिस्थि-तियों ने केरल के बुद्धिजीवी की आस्थाओं पर एक नया वार किया। एक नया भ्रम व गलत धारणा का जाल उनके नयनों से हट गया। साम्यवाद की सफलता के प्रति आस्था भी कम हुई।

अब हम तीसरे पहलू पर आते हैं-याने प्रजातांत्रिक शासन और लोक कल्याणकारी समाजवादी व्यवस्था पर। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कई कारणों से भारतीय जन का जीवन-व्यय भारी से भारी होता चला है। योजनाबद्ध कार्य-क्रम के बावजूद नई विकट समस्याओं ने लोगों को, खासकर विचारशील मध्य-वर्ग के बुद्धिजीवियों को दुःखित, निराश किया है। प्रजातंत्रवाद की सीधी

सफलता में अनेक निहित स्वार्थ अड़ंगे लगाते हैं। इसलिए लोक-कल्याण का लक्ष्य पूरा होता नज़र नहीं आता। औद्योगिक सभ्यता और जीवन के कृत्रिम विलासों की वृद्धि ने नैतिक और अन्य मान्यताओं को घटाना प्रारंभ किया है। इन्हीं दुस्स्थितियों के कारण आज मानव के मन में विराग, ग्लानि, अनास्था, उदासी आदि कमज़ोरियाँ समाई हैं। मलयालम साहित्य के लेखकों के हृदयों में भी ये कमजोरियाँ अवश्य हैं। किन्तु मालूम पड़ता है कि ये अब मानसिक अवसाद के लिए अधिक जगह न देकर फिर से मूल मानवता के प्रति आस्थावान बन रहे हैं। अर्थात् ये प्रकृति तथा मनुष्य के कोमल हृदय से नई शिक्षा पाना चाहते हैं। ये विज्ञान व राजनीति के मायावी अभिशापों से सरल मानव को सावधान करना चाहते हैं कि इनके बहकावे में आकर अपनी सच्ची मानवता मत छोड़ो। इसी प्रवृत्ति के मतलब से मैंने अन्यत्र बताया कि आधुनिकतम प्रवृत्ति मलयालम में यथार्थ पर आधारित मानवतावाद की ओर है।

★

डा० शम्भुनाथ पांडेय

आधुनिक हिन्दी कविता का जन्म बहुत कुछ पाश्चात्य जातियों के सम्पर्क का परिणाम है। सरिताओं के संगम के समान दो जातियों का सम्मिलन जातीय जीवन में उथल-पुथल पैदा करने वाला होता है। जिस जाति के जीवन में गतिशीलता अधिक होती है वह उस जाति के जीवन को अधिक क्षुब्ध करती है। १९ वीं शती के उत्तरार्ध में हिन्दू जाति अँग्रेजों के सम्पर्क में आई। यह सम्पर्क दो बराबर की जातियों का नहीं था। एक विजेता थी तो दूसरी विजित, एक शासक थी तो दूसरी शासित। एक में यदि वैज्ञानिक बुद्धिवाद का आग्रह था तो दूसरी में अन्ध परम्पराओं के प्रति मोह, एक में यदि औद्योगिक क्रान्ति का उत्साह एवं गतिशीलता थी तो दूसरी में मस्ती, लापरवाही और स्थिरता। एक में यदि नवप्रभात की हलचल थी तो दूसरी में विगत निशा की खुमारी। इसलिए अँग्रेजी सभ्यता ने जितना भारतीय सभ्यता को प्रभावित किया उतनी वह स्वयं प्रभावित न हो सकी। इस प्रभाव का विशिष्ट अनुशीलन हम तीन रूपों में कर सकते हैं।

१–भारतीय जीवन को झकझोर कर नवीनता की ओर प्रेरित करना।
२–जातीय एकता की भावना को प्रोत्साहित करना। और
३–समाज को मध्यकालीन सामन्तवादी संस्कृति से आधुनिक मानवतावादी संस्कृति की ओर उन्मुख करना। किंचित समीक्षा करने से बात स्पष्ट हो सकेगी।

१. नवीनता की प्रेरणा

यह भाग्य का खेल है कि आधुनिक विज्ञान का सूर्योदय पूर्व में न होकर पश्चिम में हुआ। विज्ञान ने औद्योगिक क्रान्ति उपस्थित की और औद्योगिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद को जन्म दिया। १९वीं शती में उपनिवेशवाद की दौड़ में प्रथम आने वाली अँग्रेज जाति ने अपने कुचक्रों के द्वारा हमें पराजित किया। पराजित करके हमें लूटना शुरू कर दिया। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण ने देश की आत्मा को झकझोर दिया। हमने विद्रोह भी किया, किन्तु विद्रोह सफल न हो सका। विद्रोह असफल अवश्य हुआ, किन्तु उसने समस्त जाति को जगा दिया। राजनीतिक और आर्थिक रूप से गुलाम होने पर भी हमें अपनी धार्मिक और साँस्कृतिक परम्पराओं की सुरक्षा की चिन्ता हुई। सुरक्षा की भावना के साथ-साथ यह भी चेतना जागृत हुई कि हम अपने धर्म और संस्कृति के मूल तत्वों का अन्वेषण करें, उनका आदर करें और उन अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों को तिलांजलि दें जो मध्यकालीन सांस्कृतिक पराभव का परिणाम थीं। देश में नव-जागरण उत्पन्न हुआ। दार्शनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रतिभावान व्यक्तित्व उत्पन्न हुए जिन्होंने देश की प्राचीन परम्पराओं को नवीन अर्थ प्रदान किया। पौराणिक अवतारवाद से वैदिक ब्रह्मवाद, छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति की संकीर्णता से आर्य संस्कृति की एकता एवं व्यापकता का प्रचार किया गया। सुधारवादी आन्दोलन देशव्यापी बने। धीरे धीरे मध्यकालीन अन्ध परम्पराओं, रूढ़ियों, संकीर्ण ऊँच-नीचता की भावनाओं का प्रभाव क्षीण होने लगा और समाज में एक साँस्कृतिक जागरण परिलक्षित होने लगा। इस जागरण में सांस्कृतिक सुरक्षा और समन्वय दोनों ही तत्त्व विद्यमान थे। साँस्कृतिक जागरण ही हिन्दी साहित्य को आधुनिक युग में प्रविष्ट कराता है।

२. जातीय एकता की लहर

सन् ५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के साथ-साथ सामन्तवादी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई और देश की मुक्ति-कामना जातीय एकता को सुदृढ़ करने लगी। देशी रजवाड़ों के पतन के पश्चात् जातीय एकता के द्वारा ही मुक्ति-कामना की जा सकती थी। अब तक जिस एकता का अनुभव हम करते आए थे उसका आधार धर्म या इतिहास था, अब जिस एकता का अनुभव करने लगे थे उसका आधार स्वदेश और विदेश की राजनीतिक चेतना

थी। जनता यह अनुभव करने लगी थी कि जब तक सम्पूर्ण देशवासी पारस्परिक भेदभाव, ऊँचनीच की भावना को भुलाकर भाई-भाई के नाते संगठित नहीं होते तब तक अँग्रेजी शासन समाप्त नहीं हो सकता। इस राजनीतिक आवश्यकता ने उन सुधारवादी आन्दोलनों का मार्ग सरल कर दिया जो भेदभावपूर्ण मध्यकालीन सामाजिक रूढ़ियों का उन्मूलन कर रहे थे। भारतेन्दु जैसे परम्परावादी कवियों ने जातीय एकता एवं आत्मरक्षात्मक देश-प्रेम को ध्यान में रखकर ही छुआछूत और जाति-पाँति के विघटनकारी विचारों का विरोध किया है।

३. व्यापक मानवतावादी विचारों का प्रचार

अँग्रेजी राज्य की स्थापना का राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से चाहे घातक प्रभाव पड़ा हो, साँस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से उसका प्रभाव शुभ ही पड़ा। सागर-मंथन हुआ तो था लक्ष्मी की पुनः प्राप्ति के लिए, किन्तु उस मन्थन ने जन्म अन्य अनेक रत्नों को दिया। इसी प्रकार देश ने आत्ममन्थन तो किया स्वराज्य प्राप्ति के हेतु, किन्तु इस मन्थन के द्वारा उसकी नवीन साँस्कृतिक चेतना स्वयं उद्बुद्ध हुई। सामन्तों के पराभव के साथ-साथ सांस्कृतिक क्षेत्र से पण्डों, पुरोहितों और पुराणाचार्यों का नेतृत्व भी समाप्त हुआ। साहित्य का नेतृत्व भी दरबारी कवियों की परम्परा समाप्त होने के कारण ऐसे जागरूक साहित्य-सेवियों के हाथ में आया जो जन-जीवन में घुलमिल उसके हर्ष-विषाद को वाणी दे सकते थे। जिनके हृदय में जातीय पराभव का दर्द था और जो अपनी वाणी द्वारा सोई हुई जाति को जगाने के लिए कृतसंकल्प थे। साहित्यकारों ने भक्तिवादी आत्मतोष और रीतिकालीन मनोविलास के मोह का परित्याग करके साहित्य को जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख किया जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ।

अँग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रचार बढ़ा। पाश्चात्य शिक्षा ने जनतांत्रिक विचारों को प्रोत्साहित किया, साथ ही मध्यकालीन संकीर्ण रूढ़ियों का परित्याग करने के लिए नैतिक साहस प्रदान किया। जनतांत्रिक भावना ने स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे के आदर्शों की प्रतिष्ठा की। इन आदर्शों ने देश के सांस्कृतिक उत्थान में बड़ी सहायता की। धीरे-धीरे वर्ग-श्रेष्ठता, जातिगत, सम्प्रदायगत भेदभाव पर आश्रित मध्यकालीन समाज परम्परा विनष्ट होने लगी और आधुनिक मानवतावादी आदर्श शिक्षित

जनता को आकृष्ट करते गए। भारतेन्दु और द्विवेदी युगों के साहित्यकारों के सम्मुख राष्ट्रीय भावना का प्रचार और प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा की भावना प्रबल थी। इसलिए इन युगों में तो मानवतावादी आदर्श प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति न हो सके। किन्तु २०वीं शती के प्रथम दो दशकों के पश्चात् जब साहित्य मंच पर नई पीढ़ी का प्रवेश हुआ तो हिन्दी कविता में युगान्तर दिखलाई पड़ने लगा। मानवतावाद से अनुप्राणित नवीन काव्य-प्रवृत्ति को छायावाद-रहस्यवाद की संज्ञा प्राप्त हुई।

आधुनिक साहित्य में अभिव्यक्त मानवतावादी सांस्कृतिक चेतना ही वह विभाजक तत्त्व है जो उसे अन्य युगों के साहित्य से पृथक् करता है। छायावादी काव्य की वह आत्मा है। कवियों की नवीन पीढ़ी आधुनिक वातावरण में पोषित हुई थी इसलिए प्राचीनता के प्रति उसके हृदय में वह ममता नहीं थी जो पिछली पीढ़ी के साहित्यकारों में सहज थी। नवीन पीढ़ी में नवीनता का आग्रह था। उसके सौन्दर्य-बोध और अभिव्यंजना दोनों पर पाश्चात्य काव्य का प्रचुर प्रभाव था। मानवतावादी आत्म-गौरव, स्वच्छन्दता, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और व्यापक मानवीय संस्कृति के आदर्श छायावादी कविता के प्रेरक तत्त्व थे। छायावादी कवि चाहे अज्ञात प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी खेल रहा हो, या अपने प्रणय की निराशा में निमग्न हो या जीवन में पराजित होकर जीवन की चिन्ताओं का भार मदिरा की प्याली में डुबा रहा हो, उसका मानव स्वाभिमानी स्वर सर्वत्र प्रधान है। उसके रहस्यवादी गीतों की प्रेरणा का आधार धार्मिक विश्वास न होकर एक व्यापक साँस्कृतिक चेतना है इसलिए उनमें वह दीनता-हीनता और गिड़गिड़ाहट नहीं जो भक्ति-काव्य में मिलती है। लौकिक प्रणय के गीतों में रूपासक्ति तो है किन्तु उसमें भोगवृत्ति के स्थान पर सौन्दर्योपासना, आत्मसमर्पण और संयम अधिक है इसलिए इन प्रणय गीतों का साँस्कृतिक मूल्य भी अधिक है। रहस्यवादी गीत और प्रणय गीतों पर पाश्चात्य प्रभाव भी स्पष्ट है। छायावादी कविता मानवीय आदर्शों से प्रेरित है इसका सबसे प्रबल प्रमाण नारी के प्रति आदर की भावना है। हिन्दी साहित्य के किसी युग में नारी को गरिमामय मानवी का वह उच्च स्थान नहीं मिला जो छायावादी कवियों ने उसे प्रदान किया है। 'मुक्त करो नारी को' के नारे में 'इमेन्सीपेशन ऑफ वोमेन' आन्दोलन का प्रभाव भी खोजा जा सकता है। छायावादी कवियों ने जहाँ निराशा और आत्म पराजय के गीत गाये हैं वहाँ भी उनका

मानव स्वाभिमानी स्वर मुखर है । निराशावादी कवि भी 'क्षत शीश' होने पर 'नत शीश' बनने को तैयार नहीं ।

छायावादी कवि को प्रायः विद्रोही कवि कहा गया है । वह विद्रोही इसलिए था कि रूढ़ि जर्जर सामाजिक परम्पराओं के बन्धनों को उसका स्वच्छन्दतावादी मन स्वीकार नहीं कर सका । इस स्वच्छन्दतावादी चेतना का विकास भी पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से हुआ था । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि १९वीं शती एवं २०वीं शती के पूर्वार्द्ध में भारतीय संस्कृति में जो नव जागरण उत्पन्न हुआ वह बाह्य संस्कृति के सम्पर्क और संघर्ष का ही परिणाम था । हिन्दी प्रगतिवादी साहित्य तो मार्क्सवाद का साहित्यिक अनुवाद है ही, प्रयोगवादी कविता और आज की नई कविता भी बहुत कुछ बाह्य अनुकरण पर लिखी जा रही है ।

श्यामसुन्दर चौरसिया

इस विषय पर विचार करने के पहले हमें यह जानना जरूरी है कि साहित्य क्या है ।

हेनरी-हडसन के अनुसार "साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है ।"

साहित्य पिता रवीद्रनाथ टैगोर ने उसकी अति सुन्दर व्याख्या की है ।

"साहित्य शब्द से साहित्य के मिलने का एक भाव देखा जाता है । वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन भी है ।" इस तरह साहित्य शब्द एक व्यापक अर्थ का परिचायक ही हुआ है जब कि हम केवल उसे ही साहित्य समझने हैं जो मनुष्य के जीवन को सुखी, सरस तथा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है । इसी को एडलर इस प्रकार कहता है कि सम्पूर्ण साहित्य हमारे जीवन से सम्बन्धित अभावों की पूर्ति है ।

अब हमें प्रभाव के बारे में भी समझना आवश्यक है । किसी काम या विचार में किसी प्रकार का परिवर्तन होना उसके ऊपर प्रभाव कहा जायगा । जब दो या अधिक व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं तब वे एक दूसरे पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुछ न कुछ प्रभाव डालते ही हैं और इस तरह सामाजिक समूह का

निर्माण करते हैं। इस तरह हममें ज्ञात या अज्ञात रूप से कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है।

मुगल काल की अनेक विशेषताएँ हमारे साहित्य में परिलक्षित होती हैं और जिनका आज भी प्रभाव है। खुसरो की पहेलियाँ आज भी हमें आकर्षित कर लेती हैं। महात्मा तुलसीदास ने इसी समय में 'भारतीय हिन्दी महाकाव्य, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार विश्व महाकाव्य भी कहा जा सकता है, रामचरितमानस की रचना की। मुगलों के बाद अंग्रेजों का शासन भारत पर हुआ। पुर्तगाली, डच एवं फ्रांसीसियों ने भी अपने व्यापारिक अड्डे भारत में बनाए। भारत में चार्ल्स ग्रान्ट, कम्पनी के कर्मचारी के रूप में आया उसने एशियायी प्रजा का सामाजिक निरीक्षण किया। उसने भारतवासियों की स्थिति पर प्रकाश डाला। उसने कहा "अज्ञानता को दूर करने का वास्तविक अर्थ ज्ञान का प्रसार है। हिन्दू इसीलिए गल्ती करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं और उनकी गल्तियों को उनके सामने कभी भी उचित रूप से नहीं रखा गया।" ग्रांट ने अंग्रेजी भाषा को उपयुक्त माध्यम बताया। आज भी जब कि भारत को १६ साल स्वतन्त्र हुए हो गए अँग्रेजी को एक अनिवार्य विषय माना जाता है।

इस तरह मुगलों के समय उर्दू, फारसी और अरबी भाषाओं को महत्त्व दिया गया था और अँग्रेजों के समय अँग्रेजी को। यह हमारी अज्ञानता एवं कायरता का फल था जो इने गिने मुगलों ने भारत पर शासन किया और यहाँ अपने धर्म का प्रचार कर हिन्दू समाज में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन ला दिया। इसके बाद ४५ करोड़ हिन्दू-मुसलिम जनता पर केवल ७ लाख अँग्रेजों ने शासन किया और अपनी संस्कृति को हमारे देश में फैलाया। और इस तरह फैलाया कि हम घोड़े की तरह स्वतंत्र होने के बाद भी अँग्रेजी के बंधन में बँधे हुए चल रहे हैं। हम उस तोते की तरह हो गए हैं जिसे दो चार साल पिंजड़े में रखकर यदि राम-राम कहलवाया जाता है तो छूटने पर भी वह राम-राम कहता है।

हमारे यहाँ प्रमुख रूप से संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बँगला, तमिल, तेलुगु और मराठी भाषाएँ हैं जो अपने विशेष क्षेत्र में बोली जाती हैं। शास्त्रों की प्रमुख भाषा संस्कृत एवं बोली जाने वाली भाषा कबीर के और भी पहिले से 'हिन्दी' अधिकांश क्षेत्र में थी। इस पर अँग्रेजी भाषा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि यदि पूरी तरह उसके शब्दों को हिन्दी से निकाला जाए तो शुद्ध हिन्दी बोलना शायद कठिन हो जाएगा। अँग्रेजों के सामने जब चार्ल्स ग्रान्ट की रिपोर्ट गई तब उन

लोगों ने यहाँ तक विचार किया कि भारतीयों को यदि अधिक समय तक पर-तंत्रता में रखना चाहते हो तो उनके साहित्य को नष्ट कर दो।

मैकाले ने मुगल बादशाह अकबर की नीति से काम लिया। जैसे अकबर ने यह सोचा कि यदि राजपूतों को राजभक्त बनाना चाहते हो तो उन्हें अपना सम्बन्धी बनाओ और बड़े-बड़े पदों पर रखो। वह इसमें सफल भी हुआ था यही कारण है कि मुगल शासन ३०० साल तक रहा। मैकाले ने कहा भारतीयों को रंग व रक्त में भारतीय रहने दिया जाय, पर संस्कृति में उन्हें अँग्रेज बनाया जाय।

मुगलों ने यहाँ आकर अपनी संस्कृति का प्रभाव डाला। फलस्वरूप पर्दा प्रथा तथा वेशभूषा पर गहरा परिवर्तन हुआ। उदाहरण के लिए यदि मध्य प्रान्त का कोई भी व्यक्ति यहाँ पहिले-पहिले आवे तो आगरा में उसे हिन्दू वेशभूषा के आदमी बहुत कम नजर आवेंगे और वह ब्राह्मण की बहूबेटियों को भी वेशभूषा के आधार पर मुसलमान ही समझेगा। अँग्रेजों का प्रभाव भी हम पर इस दिशा में पूर्णरूप से पड़ा है।

वैदिक काल में चार वर्णों की व्याख्या की गई थी, परन्तु विचारों की संकीर्णता के कारण हम एक दूसरे को छोटा बड़ा मानने लगे हैं। अब पुनः ज्ञान के प्रसार से 'हम सभी मनुष्य समान हैं' विचारों का भाव जागृत हुआ है। हमारे प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन ग्रंथ वर्ण-व्यवस्था को प्रमुखता देते हैं परन्तु पाश्चात्य ग्रंथों के अध्ययन से वर्ण-व्यवस्था के बंधन ढीले पड़ते जा रहे हैं और हमारे ग्रन्थों में उसी बात पर अनेक प्रकार से विचार व्यक्त किए जाते हैं।

पहले केवल सनातन धर्म ही विश्व में था। विक्रम शती २००० वर्ष पुरानी एवं ईसवी शती १९०० वर्ष पुरानी है। परन्तु सनातन धर्म कितना पुराना है इसका कुछ पता नहीं चलता। बड़े-बड़े विद्वान केवल कल्पना से उसे चार हजार या उससे कुछ और पुराना बतलाते हैं। इस प्राचीन सनातन धर्म के सामाजिक बन्धन अत्यन्त दृढ़ थे जिन पर बाहरी प्रभाव पड़ा और आज वे प्रायः क्षीण से होते जा रहे हैं। भारत में पहले छोटे-छोटे राज्य होते थे, राजाओं के प्रमुख मुखिया को, जो सबसे अधिक बलशाली एवं वैभवशाली होता था चक्रवर्ती कहते थे। परन्तु बाह्य प्रभावों के कारण मुगल काल में तानाशाह राजा हुए यद्यपि वे भी समिति में कुछ मन्त्री गठित करके ही शासन कार्य चलाया करते थे। परन्तु इसका कोई विशेष महत्व नहीं था। आज राज्य

प्रान्त कहलाते हैं और प्रमुख राजा राष्ट्रपति कहलाता है। यह भी अमेरिका तथा इंग्लैंड का प्रभाव ही है।

उक्त प्रभावों को हम अपने साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। पहले महाकाव्य का नायक कोई राजा या महान शक्तिशाली धन धान्य से सम्पन्न नायक होता था। आज बाह्य प्रभाव के आधार पर सैद्धान्तिक रूप में चरित्रवान कोई भी व्यक्ति हो सकता है। जैसे एक काव्य में डा० रामकुमार वर्मा ने एकलव्य को नायक माना है।

पहले कविता में लय, ताल, स्वर आदि प्रमुख माने जाते थे। उसमें अलंकार पिंगल का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता था, जब कि आजकल कविता को मुक्त करने की कोशिश हो रही है।

कविता में नयापन कैसे आ सकता है। वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक इस पर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते जाते हैं, कवित्त, सवैये, दोहे लिखने से बाज नहीं आते। इस तरह आज बराबर परिवर्तन देखने में आता है। निराला की "भिखारी" और "शेफालिका" अत्यन्त बन्धन मुक्त कविता है।

पहले हिन्दी साहित्य में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की अभिव्यक्ति प्रमुख स्थान रखती थी और तब कवि सामाजिक उन्नति के आदर्शों के आधार पर अपनी लेखनी चलाते थे। रामचरितमानस उसका अच्छा उदाहरण है।

परन्तु आज बाह्य प्रभाव के कारण समाज के दुःख-सुख का यथार्थ चित्रण करना ही साहित्य में देखा जाता है।

अजंता, एलोरा तथा खजुराहो के मन्दिर हमारी पूर्व-कालीन सभ्यता के प्रतीक हैं। आज हमारे भवन निर्माण का तरीका ही अलग है। हम इस कार्य में भी बाह्य तरीकों को अपनाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारा पूरा साहित्य बाह्य प्रभाव से प्रभावित है। हिन्दी साहित्य में इसके विशेष दर्शन होते हैं क्योंकि देश की राजधानी दिल्ली के निकट की विशेष भाषा है जो आज लगातार विकास की ओर अग्रसर हो रही है।

★

डा० नित्यानंद तिवारी

मैं एक अंग्रेज लेखक की पंक्ति से अपनी बात शुरू करूँगा "The poem which is absolutely original is absolutely bad" और क्योंकि मौलिकता विकास की अगली कड़ी के साथ सम्बद्ध होती है इसलिए पिछली परम्परा के भीतर से उद्भूत और उसकी मूलभूत प्रकृति से एकात्मक और भिन्न दोनों साथ-साथ होती हैं। यह एकात्मकता और भिन्नता विरोधी बातें नहीं हैं क्योंकि उस भिन्नता के बिना नवीनता नहीं आ सकती और नवीनता के बिना मौलिकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस तरह मौलिकता परम्परा के सौन्दर्य में ही अर्थवान हो सकती है और सचेत साहित्यकार परम्परा के प्रभाव-ग्रहण प्रक्रिया से बच सकता है, यह नामुमकिन बात है। फिर सच्चे साहित्यकार के साथ विभिन्न प्रकार के प्रभाव-ग्रहण की बात सबसे पहले उठती है। परम्परा की मूलभूत प्रकृति की पहचान के बिना अपने अस्तित्व की जानकारी ही असंभव है इस अस्तित्व की जानकारी के साथ ही साहित्य के लिए व्यक्तित्व के सृजन की अनिवार्यता पहली शर्त होगी जो प्रभाव-ग्रहण से पृथक कोई माने रखती ही नहीं।

यदि अनावश्यक न समझा जाये तो मैं बड़ी स्पष्टता से एक बात कहना चाहूँगा कि जो प्रभाव आत्मसात् नहीं किया जा सका है, उसे अपने व्यक्तित्व का अंग नहीं बनाया जा सका है, वह प्रभाव है ही नहीं, वह मात्र अनुकरण है और इसलिए आत्मसात् किए गए प्रभाव के बारे में ही मैं कुछ कहना उचित समझता

अपनी बात को अधिक व्यावहारिक रूप देने के लिए भारतेन्दु से लेकर अज्ञेय के भावबोध तक का एक छोटा सा रूप प्रस्तुत करूँगा।

इतिहास में बार-बार दुहराया गया तथ्य कि भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता 'समन्वय' की है कम से कम आज के सन्दर्भ में कम खतरनाक बात नहीं है। युगों से 'समन्वय' करती आती हुई हमारी संस्कृति में भारतेन्दु युग में ही यह सबसे पहले अनुभव किया कि पश्चिम की 'गोरी' संस्कृति के साथ पहले युगों की तरह का तथाकथित 'सहज समन्वय' सम्भव ही नहीं है। इसके कई कारण थे। एक, अंग्रेजों ने इस देश को अपना समझा ही नहीं और इसलिए शासित और शासक के बीच पुराने जमाने वाले सम्बन्ध—जिसके हम अभ्यस्त हो चुके थे—कभी उगे ही नहीं। दूसरे, अंग्रेज जाति ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक प्रतिष्ठा के स्तर पर हमें आतंकित करती रही और तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था धर्म के स्तर पर ईसाइयत और केवल ईसाइयत की ही सार्थकता क्योंकि ईसा के अलावा जो 'रिवील्ड रिलीजन' इस संसार में एकमात्र प्रतिनिधि था वही मुक्ति की राह बता सकता है बाकी धर्म तो मनुष्य निर्मित थे या हैं। इसलिए उनका आत्यन्तिक महत्त्व हो ही कैसे सकता था। अब इस तीसरी बात को भी भारतीय स्वीकार कर लेता तब उसके पास बचता ही क्या जिसके बल पर वह अपनी जीवनी-शक्ति की रक्षा कर पाता। इन सभी बातों से भारतीय चेतना को शायद सबसे पहले इतना बड़ा धक्का लगा। और वह अपनी मूलभूत प्रकृति को एक दूसरी उन्नत संस्कृति के मुकाबले समझने जांचने के ओर उन्मुख हुई। फलतः सब कुछ को समेट कर मिलाते और ग्रहण करते चलने के स्थान पर कितना कुछ हमें स्वीकार नहीं करना है कि प्रतिक्रिया वहीं से स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यह नकारात्मक दृष्टिकोण सचेत प्रयत्नों के रूप में हमें यहीं से देखने को मिलता है। इससे पहले तो समय के प्रवाह में छूटने वाला तत्त्व अपने आप छूट जाया करता था उसके लिए सचेत रूप में प्रयत्नों की आवश्यकता शायद नहीं पड़ती थी।

इन सभी परिस्थितियों के कारण शाश्वत पर के स्थान सामयिक सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठीं और संस्कृति के प्रति महत्त्वबोध एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया जिसकी भूमिका प्रतिक्रियात्मक थी। और इस तरह इस समय में ही 'समयहीनता' के स्थान पर समय के प्रवाह में जीना हमने सबसे पहले स्वीकार किया। क्योंकि 'शाश्वत' और 'समयहीनता' के विभावनों को खोकर उस संकट का सामना नहीं किया जा सकता था। यह

इतनी बड़ी बात एक भिन्न और बाह्य संस्कृति की टक्कर के कारण हमारे समाज में आ सकी और यदि मात्र 'स्वीकरण' को ही प्रभाव न माना जाये तो मैं कहूँगा भारतीय चेतना को प्रभावित करने वाली यह बहुत बड़ी बात थी। यहाँ उदाहरण देने की शायद आवश्यकता न होगी क्योंकि हम बड़ी आसानी से भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों में सांस्कृतिक महत्त्वबोध के मूल्य को प्रतिफलित होते हुए पा सकते हैं। भारतेन्दु के सर्जक व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यही है जो उनके नाटकों और लेखों-भाषणों में व्यक्त हुआ था, ब्रजभाषा की कविताएँ नहीं जिनमें कई सीमाओं के कारण रीतिबद्धता वर्तमान थी। वहाँ भारतेन्दु के सन्दर्भ में हम स्पष्ट देख सकते हैं कि एक तरफ़ तो वे भारतीयता के बहुत बड़े हिमायती लगते हैं और दूसरी ओर उनके सारे नाटक और निबन्ध साहित्य के मूल्यों का स्रोत मात्र तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ जान पड़ती हैं, मोक्ष या शाश्वतता नहीं जो तब तक की परम्परा में पूर्ण रूप से स्थापित था और इस तरह अपनी परम्परा की ही उपज होकर भी वे उससे पृथक थे। उनके व्यक्तित्व का यह स्वरूप परम्परा का कितना ऋणी, तत्कालीन बाह्य प्रभावों के कारण कितना नवीन और प्रभविष्णु था इसे बताने की आवश्यकता नहीं।

किन्तु आगे चलकर इस सांस्कृतिक महत्त्वबोध के मूल्य के साथ ही यह चेतना भी आने लगी कि यह देश हमारा है और हमें वह मिलना चाहिए जिससे राजनीतिक संघर्ष की चेतना का उदय हुआ। वैसे यह राजनीतिक चेतना भारतेन्दु में भी कम नहीं थी। उन्होंने बलिया वाले भाषण में उसका बड़ा सशक्त और तीव्र उद्घोष किया भी था, किन्तु वह प्राथमिक महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकी थी। तिलक आदि के कारण इस राजनीतिक चेतना को सारे भारतीय मस्तिष्क में जड़ जमाने में बड़ी मदद मिली थी। फलतः सांस्कृतिक महत्त्वबोध और राजनीतिक चेतना के संघात से राष्ट्रीयता के मूल्य का विकास हुआ जो 'हिन्दू पॉलिटी' और "गर्वनमेंट इन एंशियन्ट इंडिया" वाली राष्ट्रीयता से नितांत भिन्न था क्योंकि इसकी प्रेरणा-भूमि नई थी। इसका सन्दर्भ बहुत अलग था। मैथिलीशरण गुप्त का कवि व्यक्तित्व इससे बहुत दूर तक निर्मित हुआ था। अब यह बात अलग है कि उद्भाविका प्रतिभा के अभाव में वे माध्यम प्रतिभा बन कर रह गए जिसके कारण समाज और संस्कृति की अभिव्यक्ति अक्सर ही सौन्दर्यानुभूति का स्तर पाने के पहले ही हो गई।

इस प्रसंग में एक और बात की चर्चा कर देना शायद अनपेक्षित नहीं

है कि यह आवश्यक नहीं कि हर युग में उद्भाविका प्रतिभा के श्रेष्ठ कवि हों ही ।

आगे चलकर यह राजनीतिक चेतना और गहरी होती गई जिसके वाहक बने गांधी जिनमें अपनी समस्याओं को समझने और उनके उपयुक्त रास्ता निकाल लेने की अद्भुत क्षमता थी । अपने लक्ष्य के लिए बराबर संघर्ष करते रहना और सक्रिय स्तर पर प्रयत्नशील बने रहना की प्रतिज्ञा के साथ धैर्य पूर्वक कष्टभोग की भावना विकसित हुई और गांधी की यह 'सहिष्णुता' अपने नए सन्दर्भों के कारण भारतीयों के तथाकथित 'सहनशील स्वभाव' से भिन्न थी । 'सहिष्णुता' अनजाने में नहीं आ गई थी । इसके प्रति पूरी सचेतनता हमें दिखाई पड़ती है । इसके साथ गांधी ने जो सत्य के प्रति प्रयोग किए उनमें बाह्य सिद्धांत या नियमों की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभवों पर अधिक बल दिया गया था और एक प्रकार से व्यक्ति-निष्ठता की बात वहीं से प्राधान्य पाने लगी थी । इस प्रकार सचेत सहिष्णुता जिसमें लक्ष्य की प्राप्ति से अधिक महत्त्व उसके लिए संघर्ष करते रहने और प्रतीक्षा करते रहने से है जो अपने आप में धनात्मक भाव-चेतना थी और व्यक्तिनिष्ठ अनुभवों की मूल्यवानता ने पूरे युग बोध को प्रभावित किया । सारे छायावादी कवियों का व्यक्तित्व गहरे स्तर पर इन बातों से प्रभावित लगता है । महादेवी का चिर प्रतीक्षा करते रहना और श्रद्धा तथा देवसेना की अटूट सहनशीलता प्रमाण स्वरूप ली जा सकती है । यद्यपि स्कंद अंत में देवसेना को प्राप्य है किन्तु वह उसे स्वीकार नहीं कर पाती । यह प्रसाद का पलायन नहीं था वरन् उन पर युग मूल्यों का सही और सचेत प्रभाव था जिसने ऐसा नहीं करने दिया । वहाँ वह अस्वीकार किसी भी अर्थ में 'नेगटिव' नहीं है । सौन्दर्यशास्त्र में रुचि रखने वाला विद्यार्थी अगर ईमानदारी से विश्लेषण करे तो इसे सहज ही समझ सकता है । इसके मुकाबले श्रद्धा की 'प्राप्ति' ही दार्शनिक प्रभाव को सौन्दर्यानुभूति के स्तर पर ग्रहण न कर पाने के कारण मुझे अभावात्मक लगती है । यह आरोपण अगर प्रसाद ने न किया होता तो शायद कामायनी और अधिक सशक्त कृति हुई होती ।

यहाँ तक आते-आते अँग्रेजी और बँगला के साहित्यकारों का प्रभाव भी काफी सीधे ढंग से पड़ने लगा था और उसका प्रभाव अभिव्यक्ति शैली पर काफी गहरा पड़ा भी था । किन्तु मैं उस पक्ष को अपनी सुविधा के लिए छोड़ दे रहा हूँ । मुझे उम्मीद है आप क्षमा करेंगे ।

इसके बाद एक पश्चिमी मतवाद-विशेष यहाँ के कुछ साहित्यकारों द्वारा फैशन के रूप में ग्रहण किया गया था और प्रगतिवादी आन्दोलन से सम्बद्ध कविताएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं कि अनुकरण साहित्य के लिए कितना घातक हो सकता है। स्मरण रहे कि प्रगतिवादी लेखकों के लिए मार्क्सवादी (पश्चिम के) लेखकों की अपेक्षा वह 'मतवाद' ही महत्त्वपूर्ण बना रहा और शायद यह एक बड़ा कारण है कि इस मतवाद से सम्बद्ध साहित्य की अपेक्षा दो एक आलोचक अधिक महत्त्वपूर्ण बन बैठे और जैसा मैंने पहले ही कहा है यह अनुकरण किसी महत्त्व की बात नहीं होती इसलिए मैं इसे भी छोड़ देने में शायद कोई गलती नहीं कर रहा हूँ।

इसके बाद जो सबसे अधिक सशक्त व्यक्तित्व आता है वह सर्वाधिक विवादास्पद भी है और बाह्य प्रभाव को सचेत रूप में आत्मसात करने वाले अज्ञेय का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व अब तक के आलोचकों के लिए चुनौती का विषय है जो उस प्रभाव को अपनी जातीय परंपरा में देखने में असमर्थ रहे हैं और यहाँ से प्रभाव-ग्रहण का स्वभाव अधिक जटिल होता है जिसे समझने और विश्लेषण करने के लिए अधिक समझदारी और समय की आवश्यकता हो सकती है शायद जिसके लिए यहाँ अवकाश न होगा और इसलिए मैं अपनी बात इस असमाप्त बिन्दु से ही खतम करता हूँ। मुझे उम्मीद है आप विद्वान सज्जन इसे अभद्रता नहीं मानेंगे।

★

डा० विद्यानिवास मिश्र

साहित्य संस्कृति की सबसे आन्तरिक और सारभूत अभिव्यंजना है। इसलिए किसी भी साहित्य में जब कोई सार्थक विदेशी प्रभाव आता है तो वह संस्कृति में आत्मसात् होकर ही आता है। प्रायः बाहरी प्रभाव सतह को छूकर रह जाता है। वह सांस्कृतिक मूल्य-संघटना के भीतर कहीं बैठ नहीं पाता और बहुत अल्प काल में ही अपने आप या उसी प्रकार के किसी दूसरे क्षणिक प्रभाव के आवेश में उड़ जाता है। पर चूँकि ऐसे सतही प्रभाव बहुत आसानी से दीखने लगते हैं वे ही अधिकतर बाह्य प्रभाव के रूप में विवेचना के विषय बनते हैं। मेरी समझ में ऐसे बाह्य प्रभावों को नकली या क्षणिक बाह्य प्रभाव मानना चाहिए। ऐसे प्रभाव फैशन के एक दौर की तरह आते हैं और चले जाते हैं, ऊपर से देखने में बड़े व्यापक लगते हैं पर वे काल के गहरे आयाम में स्थापित करने पर नगण्य प्रतीत होने लगते है। उदाहरण के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य में उपेक्षित के उद्धार का एक दौर आया। प्राचीन साहित्य की उपेक्षित नायिकाओं को अतिरंजित सहानुभूति दी जाने लगी, साहित्य में उपेक्षित पौधों और फूल-पत्तियों को बिना किसी तरतीब के सजाने का फैशन चला, किसानों और मजदूरों के श्रम पर आक्रोश का अतिरेक उड़ेला जाने लगा। यह सब हुआ दो प्रकार के ऐसे विदेशी प्रभावों के एक साथ पड़ने पर, जो स्वयं समकालीन नहीं थे, एक तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के रोमान्टिक आन्दोलन का प्रभाव था, और दूसरा बीसवीं शताब्दी

के प्रारम्भ के साम्यवादी आन्दोलन का प्रभाव। जब तक ये दोनों प्रभाव हमारी अपनी मूल्यस्तरों की रचना में समावेश न पा सकें तब तक ये प्रभाव बिलकुल सतही बने रहे। इनसे सहानुभूति तो जगी पर किसी मूल्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई, यही कारण है कि इस प्रकार के साहित्य की रचना उसके प्रणेताओं के ही जीवन-काल में उन्हीं के द्वारा विसर्जित कर दी गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में विशेषतः युद्ध की तीव्रता झेलने वाले फ्रांस, इटली और जर्मनी जैसे देशों में मानवीय विवशता का एक तीखा अनुभव जगा और उसके कारण अस्तित्व की सार्थकता के नये आयाम ढूँढ़े जाने लगे, उसका प्रभाव स्वाधीनतोत्तर युग के भारतीय बुद्धिजीवियों पर एक ख्वाह-म-ख्वाह की परेशानी और एक नकली उलझन के रूप में पड़ा। पश्चिमी जीवन के जटिल संघर्ष और पश्चिमी सभ्यता के नये नये विषम से विषमतर मोहभंग के आघात से गुजरे बिना संकट के नारे लगने लगे। परिणाम यह हुआ कि छायावादी अन्तरवेदना से भी यह पीड़ा अधिक रंगीन हो गई। पर जिन लोगों ने पश्चिम के अनुभव या उसकी उपलब्धि को अपने निजी विश्व-बोध में अन्तर्भूत करके फिर से जिया या पाया वे सहानुभूति या संकट की सार्थक गहराई को पहचान सके। यह सम्भव हो सका भीतरी विवेक या जागरूकता की प्रक्रिया से वाह्य प्रभाव के गुजरने के बाद। विवेचनात्मक स्तर पर यह विवेक अपनी संस्कृति को ठीक-ठीक पहचानने से आया और रचनात्मक स्तर पर स्वत्व की जागरूकता, ईमानदारी और स्वधर्म की निष्ठा से आया।

यही प्रश्न उठ खड़ा होता है संस्कृतियों के संघात में मूल्यबोध के परिवर्तन का। संस्कृतियों का संघात दो प्रकार का होता है, दो बराबर बल वाली संस्कृतियों का संघात और एक सबल और दूसरी निर्बल संस्कृति का संघात। बराबर बलवाली संस्कृतियाँ जब एक दूसरे से टकराती हैं तब प्रायः दोनों के वैशिष्ट्य आत्मरक्षा के प्रयत्न में और अधिक उभरते हैं। अँग्रेजी दासता के बावजूद उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में पुनर्जागरण तथा पश्चिम में बौद्धिक उदारता के इतिहास इस बात के जीवित प्रमाण हैं। सबल संस्कृति जब निर्बल संस्कृति से टकराती है तो दो ही प्रक्रियाएँ संभव हैं या तो निर्बल संस्कृति पूर्णतया विलीन हो जाती है या वह अपने टिकाऊ मूल्यों को सबल संस्कृति के मूल्यों के अधीन करके एक नया मूल्यस्तर बना लेती है। दोनों ही दिशाओं में काल का महत्व है क्योंकि बिना लम्बी प्रक्रिया से गुजरे मूल्यस्तर का निश्चित रूप नहीं बन पाता। प्रक्रिया के दौरान एक ऐसी अनिर्णीत

स्थिति बनी रहती है जिसमें कौन-सा मूल्य अधिक महत्त्व रखता है, कौन सा कम, यह कहा नहीं जा सकता । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सबलता राजनैतिक या सैनिक शक्ति के आधार पर ही निर्धारित नहीं की जा सकती । आर्थिक और सांस्कृतिक शक्ति को तो सबलता या निर्बलता के निर्धारण में आधार मानना ही पड़ता है । प्रतिरोध की मात्रा को भी एक मुख्य निर्धारक स्वीकार करना पड़ता है । यही कारण है कि बहुत सी विजेता संस्कृतियाँ कालान्तर में विभिन्न संस्कृतियों द्वारा विजित हो गई हैं । इस संदर्भ में जब हम भारतीय साहित्य पर पड़े विदेशी साहित्यों की समीक्षा करते हैं तब हम पाते हैं कि स्वाधीनता के पूर्व हममें प्रतिरोधक शक्ति अधिक होने के कारण भारतीयता की प्रतिभा स्थापित करने का उमहाव अधिक था । पर स्वाधीनता के बाद इस प्रतिरोधक शक्ति के कम हो जाने के कारण और आर्थिक तथा वैज्ञानिक (विशेषकरके प्रायोगिक दृष्टि से) संपन्न संस्कृतियों के सामने अपनी हीनता का बोध बढ़ा दीखने लगा है । इस परिस्थिति में मूल्य-स्तर का नया निर्धारण अवश्यंभावी है, यह जरूर है कि कोई स्थिरता आए इसके पहले तंत्र-कौशल (टैक्नीकल स्किल) और औद्योगिक विकास की दृष्टि से संपन्न संस्कृतियों के अवगुण हम पहले ग्रहण करें और एक अरसे तक रचनात्मक उपलब्धि को अंतिम उपलब्धि मानकर उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ न सकें । परिणामतः हम अपनी शक्ति में विश्वास भी खो बैठें । यह भी संभव है कि पराजय हीनभावना को छिपाने के लिए हम आत्मप्रचार और स्वत्व-स्थापना के छिछले और भोंड़े स्तर पर भी उतर जायें । यह भी संभव है कि हम स्वाधीनता के लिए नये सिरे से संघर्ष करने का निश्चय करें और समग्र विश्व के संदर्भ में अपने को स्थापित करके अपनी सार्थकता का रास्ता बनाएँ । पर जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ यह लम्बी प्रक्रिया है । संप्रति हम इतना ही कह सकते हैं कि हम बाहरी प्रभाव की एक ऐसी ही स्पष्ट और अँधेरी प्रक्रिया से गुजर रहे हैं ।

मेरी यह स्थापना है कि बाह्य प्रभाव तभी साहित्य में अन्तः सात् होता है जब कि वह प्रतिक्रिया या अनुक्रिया से मुक्त होकर निरपेक्ष और सहज क्रिया का अंग बन जाता है और यह सम्भव भी होता है जब बाहर से न तो भय हो न भीतर से उद्वेग । अमरीकी साहित्य में भीतर से उद्वेग अन्य परिस्थितियों के कारण आदिम, प्राच्य और अपरिचित रास्तों पर चल पड़ने की बड़ी आतुरता दिखाई पड़ रही है । भारतीय साहित्य में भी एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है

जहाँ बाहरी प्रभाव का भय घेरे हुए हैं। इस भय के कारण वह हिस्सा खिड़कियों को बन्द करके कमरों में भीतर घुसा हुआ है। जरा सी भी किसी कोने से कोई हवा अगर आ गई या कोई किरण कहीं दीख गई तो आतंक छा जाता है जाने क्या हो जाए, उस हिस्से में अपने से ही आकलित करना दुःस्वप्न सा लगता है क्योंकि हर कोठरी दूसरी कोठरी से अपने को विलग देखती है और हर कोठरी अपने आपको भारतीयता की एक मात्र धरोहरी मानती है। इसका परिणाम यह होता है कि अपनी सूरत भी अजनबी दीखने लगती है। इन दो प्रकार की स्थितियों से विलग है प्रभाव ग्रहण की एक मुक्त और स्वस्थ स्थिति जहाँ रचनाकार निर्भय और निरुद्विग्न है, वह हर प्रभाव को ग्रहण करता है पर उसमें बहता नहीं। साथ ही प्रभावों के आसरे वह जीता नहीं वह अज्ञेय के शब्दों में विश्वास करता है कि—

'जो हमें सरसाता है।
वह छिपा हुआ पानी है।
हमारी इस जानी पहचानी
माटी के नीचे का।
रीतता नहीं।
बीतता नहीं।

ऐसे व्यक्ति की रचना में प्रभाव का अन्तर्भाव हो जाता है और इस अन्तर्भूत प्रभाव का विश्लेषण ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक और शुद्ध वैज्ञानिक घटकों या कारणों के आधार पर गहराई में गये बिना नहीं किया जा सकता है।

बाहरी अभिव्यक्ति कभी-कभी भ्रम जरूर पैदा करती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गांधार कला में वंश-विन्यास ग्रीक प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने लगता है। पर जब हम उस वंश-विन्यास के भीतरी छन्द पर ध्यान देते हैं या उस कला की नैरन्तर्य दृष्टि पर ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधार कला शुद्ध रूप से भारतीय कला है। अभिव्यक्ति में, विशेष रूप से शब्द-चयन में, नये आघात-प्रतिघातों के कारण नये शब्द भी आते हैं, विदेशी भाषाओं के नये शब्द आते हैं और अपनी भाषा में भी दूसरी भाषा के वजन पर नये शब्द बनते हैं, पुराने शब्द नये अर्थ में स्थापित किए जाते हैं और यह परिवर्तन संलक्ष्य और असंलक्ष्य दोनों प्रकार से होता रहता है।

जब तक कि परिवर्तन सहज प्रवाह के रूप में होते रहते हैं और जब तक भाषा की प्रतिष्ठान और भाषा की स्वप्न सत्ता इनसे अप्रभावित रहती है तब तक इन्हें बाहर से आरोपित नहीं कहा जा सकता। साहित्य और भाषा में अर्थ

और शब्द का सामान्य सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए साहित्य की भाषा सहज होते हुये भी विशिष्ट होती है, उसमें केवल संकेतित या प्रचलित अर्थ ही नहीं होता, असंकेतित और भविष्यत् अर्थ भी निहित रहता है। साहित्य की भाषा इसीलिए कुछ अधिक समृद्ध होती है। उसमें बाहरी प्रभाव स्वस्थ रूप से आते हैं तो सम्भावना का विस्तार करने के लिए ही। जब नये अर्थ का आग्रह प्रेषणीयता के सूत्र को ही तोड़ देता है तब बाहरी प्रभाव आतंक के रूप में उपस्थित हो जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार का आतंक बहुत व्याप्त है। कुशल है कि रचनात्मक साहित्य में यह आतंक के रूप में न रह कर स्वाँग के रूप तक ही अधिकतर सीमित है। भाषा से कुछ गहरी है शैली क्योंकि भाषा समुदाय की होती है शैली व्यक्ति की। शैली कोई भी स्वदेशी-विदेशी नहीं होती शैली अपनी या परायी होती है। शैली को अपनाने वाला व्यक्ति यदि उस शैली के साथ समरस है वह शैली परायी नहीं। यदि व्यक्ति शैली को अपनाता और उसका व्यक्तित्व उसे नहीं स्वीकार करता तो वह शैली कितना भी देशी क्यों न हो उस व्यक्ति के लिए आरोपित और बाह्य है. परायी है। पश्चिमी शिक्षा के संस्कार के कारण हमारे व्यक्तित्व में अलग-अलग प्रक्षेप पड़े हैं और उन्हीं के अनुकूल हमारी शैलियाँ भी बनी हैं, यदि वे हमसे समंजस हैं तो हम कुछ आधार-विचारों में भले ही विदेशी हों हमारी शैली विदेशी नहीं कही जा सकती।

बाह्य प्रभाव का निर्धारण करते समय अन्त में बात रह जाती है आन्तरिक प्रभाव के निर्धारण की। आन्तरिक प्रभाव का आकलन जब उसके व्यापक परिवेश में नहीं किया जाता, तब तक यह खतरा रहता है कि हम बाहरी संस्कृति के सम्पर्क में जाने के कारण यदि अपने किसी विस्मृत तथा अर्ध विस्मृत मूल्यबोध को फिर से जगाने लगते हैं तो उसे बाह्य प्रभाव के रूप में कुछ लोग देखने लगते हैं। उदाहरण के लिए बौद्धिकता के लिए जो अभिनिवेश आधुनिक साहित्य में दिख रहा है उसका मुख्य स्रोत प्राचीन भारत का अपना बुद्धिवाद है, ऐसा बुद्धिवाद जो बुद्धि को मानसिक व्यापार से परे मानता है, पर कुछ मूढ़ाग्रही लोग इसे बाहरी प्रभाव कहकर उपेक्षित कर देते हैं। आन्तरिक शक्ति की समग्रता का बोध तभी है जब किसी संकीर्ण ऐतिहासिक या जातीय दायित्व से अपने को मुक्त करके अपना आकलन किया जाय। बाह्य प्रभाव अपने आप में शिव या अशिव नहीं होता, उसके प्रति प्रभाव ग्रहण करने वाले व्यक्ति या समुदाय का मनोभाव शिव या अशिव परिणाम उपस्थित कर

सकता है, प्रभाव ग्रहण करने का ढंग भी सुरुचि या कुरुचि को जन्म दे सकता है, पर बाह्य प्रभाव तो अपरिहार्य है, वह गतिशीलता का नियत परिवेश है। उससे घबराने की उससे समन्वत स्थापित करने की या उसके विरुद्ध जेहाद बोलने की स्थिति मुर्दा या कमजोर साहित्य में आती है, जीवित या समर्थ साहित्य में नहीं।

डा० जगदीश गुप्त

मैं अपने वक्तव्य को संस्कृति से जोड़ता हुआ, कला और कविता इन दो बिन्दुओं पर विशेष रूप से प्रस्तुत करूँगा।

मैं यह बराबर अनुभव करता हूँ कि जो परिवर्तन घटित होते हैं, जो प्रभाव किसी भी संस्कृति पर पड़ते हैं उनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म, सांकेतिक और स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, तो वह कविता में दिखाई देती है। ऐसी मेरी धारणा है और मैंने यह बराबर अनुभव किया है कि जब कोई सांस्कृतिक परिवर्तन होने का होता है तो 'वेदर-काक' की तरह कविता में कहीं ऐसा संघर्ष होने लगता है कि हम यह अनुभव करने लगते हैं कि अब कहीं से कुछ प्रचलन घटित हो रहा है। मेरा कहना यह नहीं है कि अन्य क्षेत्रों में वह होता नहीं है। पर जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, उसमें कविता में वह लक्षित होती है। ऐसा क्यों? इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि हमारे व्यक्तित्व का गठन हमारी बौद्धिकता से ही नहीं होता वरन् हमारी सम्पूर्ण संवेदनशील अंशों का भी उसके अन्दर समावेश होता है और जब कोई बाह्य वस्तु हमको प्रचालित करती है तो उसका अंतरंग से संघर्ष भी होने लगता है और उसकी अभिव्यक्ति उस धरातल पर विशेषतः होती है जहाँ पर कि हमारा संवेदन अधिक जागरूक, अधिक सक्रिय रहता है। प्रभावों की स्थिति को मैं मुख्यतया चार-पाँच स्तरों में रखकर देखता हूँ। पहला स्तर सम्पर्क का है। जब कि किसी बाह्य विचार-धारा से, विचार-बोध से, सौंदर्य-बोध से हमारा परिचय होता है तो वह केवल

सम्पर्क की स्थिति होती है। उस स्थिति में हमारा विवेक यदि जागृत है तो हम सीधे-सीधे तीन प्रकार की प्रतिक्रिया अपना सकते हैं–त्याग, ग्रहण, और उपेक्षा—या तो हम उसको त्याग देते हैं या हम उसको ग्रहण कर लेते हैं या हम उसकी उपेक्षा कर देते हैं। इनसे अधिक कोई गति नहीं है। इन तीनों में से कोई न कोई गति हमको चुननी होती है जो हम सहज भाव से चुन लेते हैं। परन्तु अगर हम उसको ग्रहण करते हैं तो यह ग्रहणशीलता बड़ी दूरवर्ती वस्तु है। अगर हम उसको त्यागते हैं, तो भी एक लम्बा संघर्ष करना पड़ता है और उपेक्षा भी आज इतनी सहज और सम्भव नहीं रह गई कि हम जीवित-जागृत इसे अपने बोध के बीच में स्थित जीवित वस्तु के लिए यह कह दे कि हम उपेक्षित करते हैं तो वह उपेक्षित हो जाए। हमारी इच्छा से कोई वस्तु उपेक्षित नहीं होती। इसलिए यह सम्पर्क का धरातल ऊपरी होते हुए भी महत्वपूर्ण है।

इसके बाद प्रभाव का एक दूसरा स्तर है जिसके लिए मैं कहूँगा कि यह सानुपातिक संतुलन का स्तर होता है। यह सानुपातिक संतुलन का स्तर इस रूप में है कि हमारी संवेदन-प्रक्रिया, हमारी प्रतिक्रिया, कुछ निश्चित रूपों में निहित रहती हैं। परन्तु जब किसी बाह्य वस्तु से हमारा सम्पर्क होता है तो उन प्रतिक्रियाओं की विधि में अंतर पड़ जाता है और हमारे आकर्षण-स्वरूपों में अन्तर पड़ जाता है। यह मैं विशेष रूप से कहना चाहता हूँ कि किसी भी देश की संस्कृति क्रिया से जितनी जानी जाती है उससे भी अधिक प्रतिक्रिया से जानी जाती है। हम किसी वस्तु के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं उससे उस देश की संस्कृति बहुत आसानी से जानी जाती है। अगर कोई हमारे प्रति अपराध करता है, हमको गाली देता है तो हमारे व्यक्तित्व का बोध उसकी प्रतिक्रिया से तत्काल हो जाता है। अगर हम छिछले हैं, अगर हम संतुलित नहीं है तो हम तद्वत् ही आचरण करने लगेंगे। परन्तु अगर हम किसी दूसरे व्यक्ति के मनोभावों का विश्लेषण कर सकते हैं तो हम तत्काल देखने लगेंगे कि किस कमजोरी के कारण उसने ऐसा कार्य किया। तो यह अंतर्दृष्टि हमारी प्रतिक्रिया को संतुलित करती है। मैं समझता हूँ कि यह जो अनुपात की बात मैंने कही उसको मैं थोड़ा सा स्पष्ट कर दूं। प्राचीन मध्यकालीन संस्कृति में कुछ आदर्श ऐसे थे जिनके प्रति हमारा रागात्मक भाव था। आधुनिक जीवन में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ आईं जिन्होंने उस आदर्श को विचार के स्तर पर और सांस्कृतिक व्यापक स्तर पर भी तोड़ा। परिणाम यह हुआ कि एक नया आनु-

पातिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। तो हम जिस रूप में इसको देखते हैं, जो हमारी प्रतिक्रिया होती है, उसमें अनुपात-भेद से यद्यपि वस्तुएँ रहती हैं, परन्तु उनका संतुलन बदल जाता है और यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसको भी प्रभाव का दूसरा स्तर कहूँगा।

उसके बाद प्रभाव की एक तीसरी स्थिति आती है संश्लेषण की। अनुपात भेद तो हो गया। जो चीजें जहाँ-जहाँ थीं, टिकीं, उनमें परिवर्तन घटित हो गया, परन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह एक विशेष स्थिति में ही संतुष्ट हो पाता है। एक संश्लेषण की प्रक्रिया अन्दर से ही चलती रहती है। मूर्ति-पूजा को ही लें किसी काल में इस पर बहुत बड़ा आघात लगा। एक संस्कृति ऐसी आ गई कि जिसने यह संकल्प किया कि इस प्रकार के रूप-बोध, उपासना और धर्म के संयोग को हम नष्ट करेंगे। यह अनुचित है। इतना बड़ा आघात इस देश की सांस्कृतिक चेतना पर लगा। उसका एक संतुलन होते-होते घटित हुआ और यह कि हमने अपनी उपासना की भावना को नष्ट नहीं किया परन्तु वह जो रूप से जुड़ा हुआ उसका अंश था मूर्ति के साथ, उसको अलग कर दिया। तो यह एक संतुलन इस स्तर पर घटित हुआ। जो भी देश, जो भी संस्कृति आघात सहती है उसके बाद वह संतुलन की प्रक्रिया, संश्लेषण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

एक चौथा स्तर है रचनात्मकता का, रचनात्मक अभिव्यक्ति का। यह साहित्य और कला की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। विदेशी संस्कृति का सम्पर्क बचा सकना कदापि सम्भव नहीं है। जो यह कल्पना करता है वह कदाचित् मृत्यु की ओर उन्मुख होकर जीवन को देखता है। जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने आरम्भ में रूपक की भाषा में वह बात रखी थी (और वही एक विधि है इस बात को समझाने की और समझने की) कि वृक्ष की तरह से कुछ भाग पृथ्वी के नीचे रहता है, कुछ ऊपर, कुछ जो उसका विकसित रूप है उस पर आकाश की वे हवाएँ क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं जिनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कहाँ जा रही हैं और कितनी गति से कहाँ से आ रही है। इसकी सीमा नहीं हैं। परन्तु यह सारे आघात-प्रतिघात ऋतुओं के परिवर्तन, उस वृक्ष को जीवन शक्ति को नष्ट नहीं करता यदि वह नीचे की जड़ों से, जैसा विद्यानिवास जी ने अज्ञेय जी की कविता उद्धृत करके कहा, मजबूत है। नीचे के रस से अगर वह सिक्त है उसके अन्दर जीवनी शक्ति है तो वह विकास या सारे का सारा आकाश उसके लिए बाधक नहीं वरन् साधक है। अगर हम

किसी वृक्ष को बिल्कुल वैक्यूम में बन्द कर दें तो शायद वह नष्ट हो जाएगा। उसकी जीवनी शक्ति के विकास के लिए भी उन प्रभावों का ग्रहण आवश्यक है। परन्तु किस स्तर पर ? रचनात्मक स्तर पर। नहीं तो उस वृक्ष को उखाड़ सकता है। अगर जड़ कमजोर है तो ऐसे वृक्ष झंझनाहट से टूटकर गिर जाते हैं और गिरा हुआ वृक्ष पुनः आरोपित उसी तरह से किया नहीं जा सकता जिस तरह कि सहजभाव से उगा हुआ वृक्ष। रचनात्मक अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक चीज मुझे स्मरण आ रही है। गोपाल शर्मा जी ने पुनर्रचना की बात कही थी। बाद में मेरी उनसे बातचीत होती रही। मैंने कहा कि रचना शब्द पर्याप्त है। पुनर्रचना या पुनर्गठन कला के लिए कहना, साहित्य के लिए कहना उपयुक्त नहीं दिखाई देता। उन्होंने स्पष्टीकरण किया कि मन में रचना हो जाती है और उसके बाद साहित्यिक अभिव्यक्ति में पुनर्रचना होती है। मैंने कहा कि मैं इसे सार्थक नहीं मानता। इसलिए कि मन में कई बार रचना हो जाती है जैसे उर्वशी में; नारी के भीतर नारी है और फिर उस नारी के भीतर भी एक नारी होगी। तो रचना के भीतर रचना और रचना के भीतर रचना इतनी व्याख्या जितनी ऊपर करते जाएँ, की जा सकती है। परन्तु जहाँ तक जाति का सम्बन्ध है और कला का और साहित्य का, उनके अन्तर्गत जो रचित वस्तु है, जहाँ उसका संश्लेषण घटित हो चुका है उसमें सप्राणता है, आधुनिक यूनिटी है और परिवर्तनशीलता है, उसमें स्वयं अपने को प्रचलित करने की शक्ति है। ये सारे लक्षण इस बात के हैं कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व है, वह रचना है। कोई भी कलाकृति जब जन्म लेती है तो अनन्त काल की सम्पूर्ण परम्परा के विरुद्ध खड़ी होकर यह कहती है कि जैसी मैं हूँ वैसी न कोई कृति थी, न अब सम्भव है। तद्वत् प्रकृति नहीं होती। मशीन से एक जैसे प्रूफ निकलते जाते हैं; कलाकृति इसका एकदम विरुद्ध रूप होती है। वह ढली हुई वस्तु की तरह निकलती नहीं चली जाती, एक समान नहीं होती। अगर उसमें जो व्यक्तित्व है, उसका संश्लेषण हुआ है तो वह अपना विशिष्ट रूप लेकर आती है। इसी तरह समाज में भी है। अगर सब प्राणी एक जैसे दिखाई दें तो मुझे कहना होगा कि कहीं कोई उसकी रचना में दोष है, कहीं कोई विकृति है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्टता रखता है। हमारे समाज में अगर विकास के सारे सोपान नहीं हैं तो होता यही है कि सब 'स्टॉप पर्सनालिटीज़' हो जाते हैं। जैसे पशुओं में हम भेद नहीं करते उसी प्रकार मनुष्य में भी जब हम भेद नहीं करते तो

ऐसी संस्कृति को हम लाना चाहते हैं जिसमें कि व्यक्तित्वहीनता का दर्शन रखा जाय तब हम कहेंगे कि वह मनुष्यता का विकास नहीं है, कहीं कोई ह्रास का लक्षण है। कहीं आप कुछ विशेषता प्रकट करना चाहते हैं, सबको एक जैसा विचार देना चाहते हैं, सबसे एक जैसी क्रिया की अपेक्षा करते हैं, सबसे एक जैसा आचरण चाहते हैं। यह मनुष्यता के विकास-क्रम में बहुत बड़ी बाधक वस्तु है। इसका उत्तर साहित्य से, कला से मिलता है जो कि मनुष्य के स्वभाव से मिली-जुली है। वहीं पर हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि हर विशिष्ट व्यक्ति के समाज से सम्बद्ध होने पर भी कला की कृति अपनी पूर्ववर्ती कृतियों का सारा दाय अपने अन्दर ग्रहण करते हुए भी विशिष्ट हो जाती है। "कामायनी" हो गई और "वेस्ट-लैंड" हो गया। इसके बीच की जो कड़ियाँ ध्वनित होती हैं, उसकी अभिभूति के पीछे वे परम्परात्मक शक्तियाँ निहित रहती हैं, परन्तु वे विशिष्ट हो जाती हैं और सारा प्रयोग इस परम्परा से जुड़ जाता है।

इस क्रम में मैं प्रभाव का एक स्तर और जोड़ता हूँ और तब यह बात पूरी होती है। वह प्रभाव का स्तर यह है कि जब रचनात्मक रीति से वह प्रभाव उसमें संगठित हो जाता है तो फिर वह स्वयं प्रभावित करता है। "कामायनी" से या आज की किसी कला-कृति में से हम कोई उदाहरण ले लें। उसके अन्तर्गत जो प्रभाव समाविष्ट होकर आया बुद्धि का, मन का, द्वन्द्व का, कहीं कुछ था, प्रसाद जी को दिखाई दिया कि इस युग के अन्दर कुछ विभाजित वस्तुएँ हैं, एक संश्लेषण उन्होंने अपने ढग से रखा। मैं नहीं कहता कि जो उत्तर उन्होंने दिया वह हमें सन्तोषप्रद है कि नहीं। परन्तु वह समस्या एक ही ज्वलंत समस्या थी। उसको उन्होंने जब प्रस्तुत किया तो वह प्रस्तुत हो जाने के बाद एक सजीव व्यक्तित्व के रूप में सामने आता है और तब वह प्रभावित करती रहता है और वह प्रभाव हमारा अपना अन्तरंग प्रभाव होता है। सारे बाह्य प्रभाव को आत्मसात करके वह एक लम्बी कड़ी बना लेता है। मैं समझता हूँ कि इस क्रम से बाह्य प्रभाव की पूरी प्रक्रिया सामने आ जाती है।

इसके बाद मैं दो-तीन बातें संक्षेप में कहकर, जिनको मैं महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, अपनी बात को रखने की चेष्टा करूँगा। मैंने यह अनुभव किया कि प्रभाव के सम्बन्ध में जो हमारी व्यापक दृष्टि है, अधिकतर विचारक भी उसी दृष्टि के हैं। जब विषय को खोलने के लिए डा० व्रजेश्वर वर्मा जी ने कुछ विचार आपके सामने रखे तो मैंने देखा कि उसी में यह बात निहित

है। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह तो उचित ही हुआ कि जो आयोजन किया जा रहा है उसके पीछे कोई दृष्टि भी है और वह दृष्टि आवश्यक है; आज विशेष रूप से आवश्यक है जब कि हम वाह्य प्रभावों की भर्त्सना इतने तीव्र रूप में देखते हैं और उनकी सक्रियता साहित्य और कला के क्षेत्र में इतनी जागृत पाते हैं। मैं यहाँ पर वात्स्यायन जी की, जो कि नई कविता के इस दौर के आरम्भ के विचारक, सक्रिय रचयिता हैं और इस दौर के इधर के एक कवि कुंवरनारायण—इन दोनों के विचार यह दिखाने के लिए आपके सामने रखता हूँ कि प्रभावों के संदर्भ में आज का जो जागरूक कवि है वह क्या सोचता है और क्या वह वही बात ही है, वह वही दृष्टिकोण ही है जो कि उचित है (मेरी दृष्टि से भी)। दूसरे साहित्य से प्रभाव ग्रहण करने की भी एक क्षमता और तत्परता होनी चाहिए जो हर साहित्य में हर समय वर्तमान नहीं होती वल्कि विकास अथवा परिपक्वता की विशेष अवस्था में ही आती है। इसलिए किसी प्रभाव से जो रचनात्मक प्रेरणा मिली है, उसे अनुकृति कहना या हेय मानना अनुचित है और बहुधा ऐसी समालोचना करने वाले के आत्मावसाद अथवा हीनभाव की ही द्योतक होती है। इससे विशेष रूप में यह बात कही गई कि वाह्य प्रभाव की रचनात्मक प्रेरणा से जो वस्तु निर्मित होती है उसे अनुकृति नहीं कहना चाहिए। कृति और अनुकृति में मूलभेद, मैं पुनः वहीं ले जाना चाहता हूँ, कि जिसमें आत्म-प्रचालन की क्षमता आ जाय वह कृति है और अगर आत्म-प्रचालन नहीं होता, उसके प्रचलन के लिए किसी पूर्ववर्ती कृति का वोध हमको आवश्यक होता है तो मैं उसे अनुकृति कहूँगा। और अगर रचनात्मक स्तर पर प्रभाव उसका अंग हो, संगठन में आ गया तो फिर उसका प्रश्न नहीं उठता। दूसरी बात कुंवरनारायण ने कही। उन्होंने कहा कि प्रभाव के निर्धारण में अधैर्य होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के रचनात्मक साहित्य के लिए अकसर यह सुनने-पढ़ने को मिलता रहता है कि उस पर विदेशी साहित्य का प्रभाव है। बात बहुत गलत न होते हुए भी, अकसर बहुत गलत तरीके से समझी जाती है। इस गलत समझने के पीछे एक विशेष प्रकार का अधैर्य दीखता है, जो न तो विदेशी प्रभाव को ही समझना जरूरी मानता है न उस साहित्य को ही जिसे वह विदेशी प्रभाव से प्रभावित मानता है। मैं इसके सम्बन्ध में एक मार्के की बात कहूँगा कि वास्तव में वह अधैर्य है जो ऐसा कहता है कि यह उससे प्रभावित है। देखना होगा कि उसकी प्रमाणिकता क्या है, वह व्यक्ति किस धरातल से बोल रहा है। क्या वह उसका विशेषज्ञ है जिसका प्रभाव बताता है या उसका जिस पर प्रभाव बताता

है। नई कविता के संदर्भ में आये दिन मुझे एक चीज सुनने को मिलती है कि यह तो विदेशी प्रभाव है, विदेशी जूठन है, यह बटोर कर हिन्दी साहित्य को आप कहाँ ले जा रहे हैं। इसके विरुद्ध दूसरे लोग यह कहते हैं कि यह तो हमारी मौलिक अनुभूति है। कवि कहते हैं कि हमारे ग्रंतःसंघर्ष से यह प्रेरित है। मैं तो खेद के साथ कहूँगा कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने जो कुछ कहा वह लगभग सही था कि नई कविता का उनको कोई बोध नहीं होता। अनजाने में ही नई कविता के बारे में जो कुछ सुन लिया उससे उन्होंने प्रेरित होकर उसके प्रति अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी। उनके ही कहे हुए तथ्यों को सामने रखकर देखा गया तो विचित्र लगा। जब प्रगतिवाद का आन्दोलन बहुत तीव्रता पर था और पन्त जी पर उसका प्रभाव दिखाई देता था तो उस समय उन्होंने यह कहा था कि यह हिन्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि पन्त जी प्रगतिवादी प्रभाव के अन्तर्गत आ गये हैं। अब प्रश्न यह है कि 'ग्राम्या' की रचना दुर्भाग्य है हिन्दी का या नहीं। मैं तो समझता हूँ कि 'ग्राम्या' एक उपलब्धि है। वह प्रभाव पन्त जी पर पड़ा। परन्तु 'ग्राम्या' में वह रचनात्मक स्तर पर आया। उसकी दृष्टि से उन्होंने ग्राम को देखा और हिन्दी का कम से कम कोई ऐसा कवि मुझे दिखाई नहीं दिया कि जिसने उस काल में जबकि ग्राम को गौरवान्वित करने की पूरी प्रवृत्ति थी, 'हाय, ग्राम्य जीवन भी क्या है'? कहा। वहाँ से लेकर उन्होंने उस समय यह कहने का साहस किया कि गाँव इस भारत के शरीर पर व्रण हैं। यह बात बहुत साहस की बात थी। इसके पीछे जो दृष्टि थी कि उसमें प्रभाव नहीं है, कम से कम मैं कहता हूँ कि पन्त जी भारतीयता के प्रति उतना ही रागात्मक सम्बन्ध रखते थे जब उन्होंने यह कहा कि गाँव इसके व्रण हैं जितना मैथिलीशरण जी भी ग्राम के प्रति रखते थे जब कि वे कहते थे कि 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' दोनों की दृष्टि भिन्न थी। एक ग्राम के माध्यम से भारतीय जीवन की दरिद्रता देख रहा है। मैं समझता हूँ कि दोनों प्रतिक्रियाएँ वास्तविक थीं, कृत्रिम नहीं थीं। रचनात्मक स्तर पर उनकी जब अभिव्यक्ति हुई तो वह प्रभाव मेरी दृष्टि में बाह्य नहीं कहा जाएगा।

परम दर्शन के प्रभाव के बारे में यह अवश्य कहूँगा कि सुमित्रानन्दन पन्त या किसी भी कवि की रचनात्मक क्षमता का अगर 'ग्राफ' बनाया जाए तो रचनात्मकता का यह 'पीक पीरियड' होगा। उसके बाद फिर जब कोई चीज आगे बढ़ती है और उसको विशेष विस्तार दिया जाने लगता है तब रचना में बिखराव आने लगता है। वह चीज कवि के व्यक्तित्व का ग्रंश नहीं बनती है।

पर मैं अलग-अलग रचनाओं की बात नहीं कहूँगा। मैं यह कहूँगा कि दर्शन-शास्त्र का प्रभाव ग्रहण करने के क्षेत्र में न जाने ऐसे कितने काव्य मिलेंगे जिनके अन्दर समन्वय नहीं रह गया। जो विचार हैं तद्वत् ऐसे के ऐसे रख दिये गये हैं। मध्य-काल में भी बहुत-सी रचनाएँ मिल जाएँगी जो काव्य के नाम पर प्रचलित हैं, जिनमें साम्प्रदायिक विचार तवद्त् रखे हुए मिलेंगे। जो भी हो, इन लोगों के स्तर पर या अगर धार्मिक धरातल पर आज भी कोई चीज घटित होती है तो मैं उसे स्वीकार नहीं करता। मुझे लगता है कि वह चाहे अरविन्द दर्शन हो, चाहे मार्क्सवाद हो और चाहे वह किसी तरह का व्यक्तिवाद हो, अगर कवि के व्यक्तित्व का अंग होकर नहीं आया, उस व्यक्ति-विशेष का अंग होकर नहीं आया तो वह ग्रहण नहीं है। इस मामले में, मैं कहूँगा कि राव साहब ने प्रभाव की जो यह भीतरी व्याख्या की, यद्यपि उसमें समस्या दूसरे प्रकार की उत्पन्न हो जाती है कि जैसी आपको लगती है वैसी ही स्थिति वहाँ है कि नहीं, दूसरे व्यक्ति को 'इन्टीमेशन' दिखाई दे सकता है। पर इतनी बात मैं मान सकता हूँ कि अगर इन्टीमेशन दिखाई दे तब आप उसको भीतरी प्रभाव मानें अगर नहीं दिखाई देता है तो उसको बाह्य प्रभाव मानें। जो नये-नये देश हैं, जिनकी अपनी सांस्कृतिक परम्परा बहुत बड़ी नहीं होती हैं उनकी समस्या भिन्न होती है और जो देश ऐसे हैं, जिनकी सांस्कृतिक परम्परा बहुत बड़ी है और यही नहीं, वह सम्पूर्ण परम्परा को आत्मसात करके उसका उत्तराधिकारी अपने को मानते हैं, उनकी समस्या भिन्न है। अमेरिका की वह समस्या नहीं है जो भारत-वर्ष की समस्या है। उसका दूरवर्ती इतिहास नहीं है। वे आरम्भ करते हैं और विचलित भी हो जाते हैं। योरोपीय सिम्बोलिज्म का प्रभाव उन पर पड़ा। बात पुरानी है, सिम्बोलिज्म भी अब बीता हुआ हो गया। लेकिन वे कहते हैं कि हम उससे डरते नहीं हैं, वरन् अभिव्यक्ति की आवश्यकता के रूप में उसको ग्रहण करते हैं। यहाँ एक बात मैं कहूँगा कि एक व्यापक स्तर पर अगर हम देखें तो बहुत बड़े परिवर्तन घटित होते हैं। जब मध्यकालीन विचारधारा से हमारा साहित्य अलग होता है तो उसकी अभिव्यक्ति की समस्या नई है और ये समस्याएँ जो हमारे भारतवर्ष में हैं, और किसी अन्य देश में भी आज हैं वे समान स्तर पर हैं। प्राचीन समाधान से हम उसको पूरा नहीं कर सकते। उन समाधानों की खोज हमें अपने ढंग से करनी है और उस संघर्ष में लगे हुए व्यक्ति एक तरह का समानधर्मा हो जाता है। अगर अन्य देश में आधुनिक आवश्यकता से कोई अभिव्यक्ति की प्रक्रिया होती है तो हम उसकी

नकल करें यह बात नहीं है, परन्तु वह आवश्यकता हमारी भी है। कभी-कभी वह एक मीठी आत्मीयता दिखाई देती है जिसको ग़लत ढंग से लोग कहते हैं कि यह प्रभाव है, जैसे मुक्त छन्द। हमारे आधुनिक युग में मुक्त छन्द एक बदलती हुई अभिव्यंजना है।

वी० रा० जगन्नाथन

'साहित्य में वाह्य प्रभाव : भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में'—इस शीर्षक से यही व्यंजित होता है कि भारतीय साहित्य अपने में एक स्वतंत्र इकाई है जिस पर अन्य भाषा-साहित्यों का प्रभाव ही द्रष्टव्य है। यह वात बहुत दूर तक सच है। भारतीय जनता में प्रादेशिक अंतरों के कारण सामाजिक वैभिन्य के होते हुए भी इसके संपूर्ण साहित्य में एक अन्वय-सूत्र है जो सारे साहित्य को एक सांस्कृतिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर उसकी सहज क्रियाशीलता पर नियंत्रण रखता है। जहाँ भारत की जनता ने वाह्य परिस्थितियों और विचार-धाराओं का, स्वीकृति तथा निरोध में, प्रभाव ग्रहण किया, वह न्यूनाधिक रूप से सारी भाषाओं पर पड़ा। जैसे भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के समय में सारे भारत में भारतीय संस्कृति के उन्नायकों तथा दासता की बेड़ियों से मुक्ति दिलाने को कटिबद्ध, रोषपूर्ण लेखकों का अभ्युदय। इसी प्रकार भक्ति के अभ्यु-त्थान-काल में सारा भारत एक ही इकाई के रूप में हमारे सामने आता है। दक्षिण के आड़वार आदि कवि, पूरब में शंकरदेव, चैतन्य, पश्चिम के तुकाराम, नामदेव तथा उत्तर के संत-भक्त कवि—इन सभी में भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से कोई पार्थक्य नहीं है।

भाषा पर कई कारणों से और कई प्रकारों से प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक नैकट्य के कारण, सांस्कृतिक संपर्क से और अन्य राजनीतिक कारणों से प्रभाव लक्षित होते हैं जिनमें प्रमुखता की दृष्टि से सांस्कृतिक प्रभाव ही पहला है।

जहाँ भौगोलिक आधार से ही प्रभाव पड़ता है वह भाषा पर भाषा का, मुख्यतया शब्दों के आदान-प्रदान का ही होता है और यह ऊपरी प्रभाव है। यह प्रभाव साहित्य की प्रवृत्तियों, धाराओं और गतिविधियों पर गहरी छाप नहीं छोड़ता। इस स्थिति में शब्दों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं और अधिकृत समाज की हीन वृत्ति की दमनेच्छा आदि अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से भाषा की शब्दावली, मुहावरे और कहीं-कहीं शैली पर भी प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक कारणों से भी भाषा पर प्रभाव पड़ सकता है। जैसे मुगलकालीन हिंदी साहित्य पर और आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्यों पर परिलक्षित होता है। यह प्रभाव संपर्क तथा सांस्कृतिक प्रभाव के बीच की अवस्था है। पर जहाँ जनता दृढ़चित्त है वहाँ वह इस प्रभाव से मुक्त भी हो जाती है। एक सर्वविदित उदाहरण है—भक्ति-काल का भारतीय समाज तो पराधीन था, किंतु उस समय का साँस्कृतिक भारत पराधीन न था। कवि-मनीषियों की सजग चेतना और उनका भाव-क्षेत्र निर्विवाद रूप से भारतीय ही था। अंततः सांस्कृतिक प्रभाव है, जो साहित्य की अंतर्वर्तिनी धाराओं और मूलभूत मान-दण्डों में व्यापक या कहीं आमूल परिवर्तन करने में समर्थ होता है।

यह बाहरी प्रभाव कई माध्यमों से आता है। इसका सरलतम और अत्यंत साधारण कोटि का माध्यम अनुवाद या प्रत्यक्ष अनुकृति है—क़लम की तरह एक संस्कृति की शाख को दूसरे सांस्कृतिक परिवेश में जमा देना। पर अनुवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। यह अनुवाद न तो अपनी भाषा का ही प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत करता है, न इसे अनूदित भाषा की साहित्यिक धाराओं का ही अंग माना जायगा। किसी पृष्ठभूमि के अभाव में यह अपने साहित्य का भी परिचायक नहीं माना जा सकता। दूसरा प्रभाव विदेशी समाज की पृष्ठभूमि में लिखे गए भारतीय साहित्यकारों की कृतियों का है। हिन्दी में इस दिशा में निर्मल वर्मा आदि अनेक कलाकार सक्रिय रूप से काम कर रहे हैं। यह साहित्य-संप्रदाय न मूल साहित्य से ही मेल खाता है, न इस साहित्य का ही अपने में कोई सहज अन्वय है। क्योंकि कोई जापानी परिवेश में लिखता है तो कोई यूरोप के रंगमंच पर। अपरिचित मंच पर परिचित पात्रों का अनोखा अभिनय और अपरिचित वातावरण में अपरिचित पात्रों का परिचित भावनृत्य देखने में अच्छा होते हुए भी अजीब है। इस नये कौशल को नया साहित्यिक 'स्टंट' ही माना जा सकता है।

साहित्य पर स्थायी प्रभाव वहाँ पड़ता है जहाँ समाज के बदलते धार्मिक-

नैतिक मूल्यों का प्रभाव साहित्य के प्रतिमानों पर पड़े, जहाँ साहित्य के रचयिता जीवन के दृष्टिकोण में परिवर्तन के अनुरूप नयी-नयी दिशाओं में सोचें-विचारें। इस प्रकार का प्रभाव ही आधुनिक हिंदी साहित्य पर अधिक पड़ा है और पड़ रहा है, जिस प्रभाव से आधुनिक भारतीय भाषाएँ ही क्या, विश्व भर की विकसनशील भाषाएँ प्रभावित होती रही हैं। पूर्वकाल में, प्रचार-साधनों के अभाव में तथा अन्य सामाजिक कारणों से मानव इतना विचार-प्रधान न हो सका जितना वह आज है और इस चिंतन-शक्ति तथा बौद्धिकता का गहरा प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। इसी कारण पूर्वकाल में जहाँ भाषा की शब्दावली, शैली आदि पर सतही प्रभाव ही पड़ा था, वहाँ सारा आधुनिक साहित्य विश्व की हर विचारधारा से अनुप्राणित है, हर घटना से स्पंदित है तथा विश्व-साहित्य की हर विधा या विचारधारा के साथ क़दम मिलाकर चलने में समर्थ है।

यह युग ही मानव इतिहास में अत्याधिक उथल-पुथल का युग है जिसमें आये दिन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन तथा विभिन्न विचारधाराओं और मान्यताओं का नितांत उत्कर्षापकर्ष होता रहा। विज्ञान की हर खोज, समाज की हर क्रांति और आंदोलन तथा विचारकों की हर बदलती मान्यता ने समाज पर और अंततः साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। उदाहरण के लिए विश्वयुद्ध से प्रभावित साहित्य हेमिंग्वे का तथा फ्रायडवाद से प्रभावित साहित्य डी० एच० लारेन्स का है। हिंदी साहित्य में रूसी आंदोलन और मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य ने इन सभी संघातों और परिवर्तनों की सत्यता तथा समर्थता को परखा और वह आज भी समाज के अनुरूप अपने को ढालने में सतत प्रयत्नशील है।

बाह्य प्रभाव की दो दिशाएँ--बाह्य (याने सौंदर्य या आनंदानुभूति को छोड़ कर अन्य बाहरी प्रेरणाएँ) और विदेशी – हैं। किसी कवि को वेस्टमिन्स्टर एबे को देखकर तथा किसी को बैकाल झील को देखकर तथा सारे भारतीय कवियों को चीनी आक्रमण से प्रेरणा मिली। यह प्रेरणा बाह्य हो सकती है। इन बाह्य प्रेरणाओं से स्वतः निष्पन्न काव्य का बुरा असर तो क्या, हितकर परिणाम ही होता है जैसे आरंभ में मैंने भक्ति आंदोलन तथा स्वतंत्रता-संग्राम का उल्लेख किया है। यह साहित्य किसी बाह्य प्रभाव से प्रेरित है, चाहे वह अवचेतन से संतुष्ट सौंदर्य-चेतना हो, या कोई बाह्य दृश्य या घटना। यह प्रभाव (या प्रेरणा) विदेशी प्रभाव से इस दृष्टि से विशिष्ट है कि विदेशी प्रभाव सप्रयत्न ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण के अनेक कारण और लम्बी प्रक्रिया

होती है। इस प्रेरणा से किसी को कोई असंतोष होना नहीं चाहिए। शिकायत तो तभी होगी जब दो विभिन्न संस्कृतियों में या सामाजिक संगठन में संघर्ष हो और किसी की चीज़ दूसरे पर थोपी जाय। वहाँ एक की चीज दूसरे के लिए नवीन, आकर्षक होते हुए भी अधिक मात्रा में अपाच्य हो सकती है। पर जहाँ दो संस्कृतियों में विभिन्नता नहीं है वहाँ तो केवल विचारों और आचारों का आदान-प्रदान मात्र होता है, न कि कोई बाह्य प्रभाव। यही बात भारतीय भाषाओं पर लागू होती है।

हिंदी साहित्य ने भी न्यूनाधिक रूप में आधुनिक युग के सभी सामाजिक तथा वैचारिक संघर्षों से प्रभाव ग्रहण किया है। छायावाद के बाद, जो खुद ही यूरोपीय रोमान्सवाद से प्रभावित है, कई अन्य वादों की भरमार-सी आयी। इनके पीछे एक ओर साहित्य में पड़े लंबे रचना-व्यवधान को शीघ्रातिशीघ्र पाटने की व्यग्रता है तो दूसरी ओर अपने साहित्य के अभाव से त्रस्त मन की हीन भावना है जो हर किसी विदेशी प्रभाव-लहर को बड़प्पन की निशानी समझ कर पकड़ती है, चाहे वह बीटलों का गाना हो, चाहे ट्विस्ट नृत्य। इन सभी कारणों से हमें यह निर्धारित करना आवश्यक होगा कि प्रभाव की दिशाएँ और सीमाएँ क्या हों जिनका अतिक्रमण न हो। आज के विद्वत्समाज के दो बहुचर्चित विषय हैं— नयी कविता और नयी कला (चित्रकला)। नयी कविता अपने बिंबात्मक खंड-चित्र-विधान, प्रतीकों की भरमार और विवेचना-विश्लेषण-प्रधान बौद्धिक दृष्टि के कारण जटिल होती जा रही है। नयी कला भी चिंतन-प्रधान गूढ़ शैली के कारण दुरूह हो गयी है। हमें सोचना और निर्धारित करना चाहिए कि क्या इन पर बाह्य प्रभाव (यदि नये कवि न सहमत हों तो बौद्धिकता को ही बाह्य मानने का निवेदन करूँगा) इतना अधिक हो कि हम इन्हें कला से बाहर निकालकर कलाबाज़ी तक पहुँचा आएँ। दूसरी ओर अस्तित्ववाद की जोरों से चर्चा हो रही है, प्रधान रूप से इसलिए कि अभी सार्त्र पुरस्कृत हो चुके हैं। पर हम स्पष्ट रूप से जानते हैं कि अस्तित्ववादियों के क्षणवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति से एकदम भिन्न हैं, दोनों दो ध्रुवों पर स्थित। तो क्या एक कलाकार अपना सामर्थ्य जताने के लिए भारतीय-साहित्य परंपरा में एक अनावश्यक मोड़ देना या हलचल उत्पन्न करना चाहता है? यह बाह्य प्रभाव निश्चय ही साहित्य के लिए हितकर नहीं है। हिंदी में अन्य कई वादों का भी प्रचलन है, जैसे अतियथार्थवाद का, जो कुख्यात दादावाद का आश्रय लेकर चला था, नकेनवाद के रूप में अनावश्यक

प्रक्षेपण । चंद पूर्व-राफेलवादियों द्वारा चलाया गया कलावाद भी जो स्पष्टतया भारतीय काव्य-परंपरा के अनुकूल नहीं है, बहुत दिनों तक हिंदी साहित्याकाश में मँडराता रहा ।

इन प्रभावों की प्रक्रिया भी बड़ी लम्बी होती है । पलायन, स्वीकृति और निरोध—इन तीनों अवस्थाओं में यह प्रक्रिया पूरी होती है । पलायन अर्ध-स्वीकृति की अवस्था है । स्वीकृति तो बाह्य प्रभाव को स्वागत के साथ स्वीकार करने की स्थिति है । स्वीकृति भी तब समस्या बन जाती है जब इसकी मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाय कि साहित्य की जड़ ही उखड़ने लगे । मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि मुक्त मन से प्रत्येक प्रभाव ग्रहण करना चाहिए । इसी मुक्त प्रभाव-ग्रहण का फल आज आक्रांत जापान भोग रहा है । निरोध की अवस्था ही दो संस्कृतियों की टक्कर दिखाती है । यही वह छलनी है जो हानिकर प्रभावों को साहित्य से दूर करती है । पर यह निरोध भी राजनीतिक कारणों से बहुत दूर तक बढ़ाया जा सकता है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तमिल भाषा में मिलेगा । तमिल में से प्रचलित अँग्रेजी, संस्कृत शब्दों को निकालकर 'शुद्ध' तमिल शब्दों को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है । यह 'शुद्धीकरण' का आंदोलन जोर पकड़ कर कन्नड़ तक पहुँचा, जो इस बात का गर्व करती है कि वह भी तमिल के समान और अन्य द्रविड़ भाषाओं की अपेक्षा 'स्वतंत्र' या 'शुद्ध' रूप से प्रयुक्त की जा सकती है ।

जिस मणिप्रवाल शैली की चर्चा की जाती है उसका सम्बन्ध तमिल से भी गहरा है । आड़वारों के गीतों के व्याख्याकारों ने संस्कृत शब्दों का निस्संकोच बहुलता से प्रयोग किया । यह सत्य है कि हिन्दी के अच्छे ज्ञान के बावजूद मैं भी उस गद्य को सहजता से पढ़ नहीं सकता । आप विश्वास मानें, यह भी सत्य है कि उन व्याख्याओं को पुनः तमिल में 'अनुवाद' करने का कार्य अन्नामलै विश्वविद्यालय को सौंपा गया है । मुझे यहाँ यही कहना है कि आलोचकों का आक्षेप यह है कि इन व्याख्याकारों ने मणिप्रवाल शैली को ले आकर तमिल भाषा की 'शुद्धता' को बिगाड़ दिया है । इस प्रकार निरोध की स्थिति राजनीतिक आदि कारणों से बहुत दूर तक बढ़ायी जा सकती है । हिन्दी भी इस दोष से मुक्त नहीं है । सामान्य भाषा को भी उर्दू के प्रचलित शब्दों से मुक्त करने की काफ़ी चर्चा पहले सुनायी पड़ती थी । इस संदर्भ में निष्कर्ष रूप से यही कहना है कि शब्दों आदि सम्बन्धी सतही प्रभाव को हटाना केवल अहम्मन्यता है । पर हानिकर प्रभाव का मुक़ाबला करना हमारा कर्तव्य है ।

एक बात और विचारणीय है। बाह्य प्रभाव के निवारण (या नियन्त्रण) के संदर्भ में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न भी उठ सकता है। यहाँ मुझे इतना ही कहना है कि हमें अपनी संस्कृति को ही सामूहिक रूप में अपने सामने रखना होगा। हम संस्कृति से अभिन्न या सम्बद्ध किसी प्रभाव को स्वीकार कर सकते हैं और संस्कृति की प्रकृति से भिन्न या विरुद्ध किसी प्रभाव को उसकी संभाव्य प्रतिक्रिया की कसौटी पर कस कर ही ले सकते हैं।

डा० गिडुगु वेंकट सीतापति

कोई भी साहित्य भाषा के बिना व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त भाषा की प्रकृति साहित्य के द्वारा निर्धारित की जाती है। किन्तु मैं भाषा के उद्गम से अपने विचार नहीं व्यक्त करना चाहूँगा, क्योंकि वह एक बहुत लम्बा विषय है। लेकिन मैं उस खोज का उल्लेख यहाँ अवश्य करूँगा जो कि भाषा वैज्ञानिक तथा नृतत्त्वशास्त्री गोवर महोदय ने की थी। वे उत्तरी अमरीका की चौदह भाषाएँ जानते थे। उन्होंने संसार के समक्ष अपना एक नया सिद्धान्त रखा। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि संस्कृत भाषा से अनेक भाषाओं का जन्म हुआ है। लेकिन उन्होंने बताया कि उससे पहले कैसे अनेक बोलियाँ मिलकर एक भाषा बनीं। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उन्होंने उत्तरी अमरीका की भाषाओं के उदाहरण दिए। उनका कहना था कि भाषा एक आदमी से नहीं बनती और उसे उसी रूप में सभी नहीं अपनाते। भाषा एक संस्था है, जिसमें सब लोग अपना-अपना योगदान देते हैं। भाषा का प्रवर्तक एक आदमी नहीं होता बल्कि पूरा समाज, क्योंकि आदमी एक सामाजिक प्राणी है। अन्य किसी प्राणी या जीव-जन्तुओं की तरह सभी लोग एक दूसरे से मिलते हैं और भाषा का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उन्हें व्यवहार करना होता है और एक दूसरे को समझना पड़ता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया। मान लीजिए कि एक बिल्ली घर में घुस आई। एक लड़के को उसकी आँखें पसन्द आईं और वह किसी भी सुन्दर आँखों की उपमा उस बिल्ली की आँखों

से देगा। दूसरे लड़के को उसकी म्याऊँ बोली पसन्द आई और तीसरे को उसके शरीर के धब्बे पसन्द आए। इस प्रकार एक ही जानवर के द्वारा अनेक शब्दों की उत्पत्ति हुई। लेकिन कोई शब्द चलता रहा और कोई समाप्त हो गया। इसी प्रकार भाषा में पर्यायवाची शब्दों का निर्माण होता है। जैसे कि अँग्रेज़ी की वह कहावत है, दो पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ नहीं होता। संस्कृत में या अन्य किसी भाषा में दो पर्यायवाची शब्द बिल्कुल वही अर्थ नहीं देते। इस तरह भाषा और शब्दों का निर्माण होता रहता है और यह दो प्रकार से होता है—आन्तरिक जड़ता और बाह्य उत्प्रेरक शक्तियों से। एक बीज के द्वारा एक पौधे की उत्पत्ति होती है और उसकी शाखें कितने ही वर्ग-गज या वर्ग मील तक फैल जाती हैं। यह सब आन्तरिक शक्ति के कारण ही होता है। यही दशा भाषा की भी है। कभी-कभी भाषा विदेशी और बाहरी प्रभाव से पनपती है। जिस प्रकार से छोटी नदी में उपनदियों और सरिताओं के मिलने के कारण उसका आकार बड़ा हो जाता है उसी प्रकार भाषा पर बाह्य शक्तियों के संघात से भाषा की वृद्धि होती है। यह प्राकृतिक है कि जब दो भाषाओं के बोलने वाले एक दूसरे से बात करेंगे तो दोनों भाषाओं पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ेगा। एक मनुष्य के लिए कभी भाषा की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसा कि मैंने पहले बताया मनुष्य एक सामाजिक जीव है और वह हमेशा एक समुदाय में रहना पसन्द करता है। इसलिए एक समूह को आपस में समझने के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पड़ती है और जब एक दूसरी भाषा का व्यक्ति उस समूह में आ जाता है तो उसको भी उस समूह की भाषा के साथ आभासी समझौता करना पड़ता है। भाषा की व्युत्पत्ति का एक सामान्य केन्द्र होना चाहिए और तभी किसी बाहरी भाषा का उस पर प्रभाव पड़ता है। भाषा पर बाह्य प्रभाव अपेक्षतया अधिक प्रधान है। जब कभी और जहाँ कहीं विभिन्न भाषा-भाषी दो संप्रदाय निकट संपर्क में आते हैं, तभी यह प्रभाव पड़ता है तथा नई बीजों और प्रयत्नों के द्योतक शब्द उधार लिए जाते हैं। इस प्रकार जब दो भिन्न भाषाओं में एक ही या समरूप कोई शब्द मिलता है, जिसका दोनों में वही या समान अर्थ भी है वहाँ यह प्रश्न उठता है कि दोनों भाषाओं में दाता कौन है और अदाता कौन। साहित्य में बाह्य प्रभाव अपेक्षतया अर्वाचीन है, क्योंकि भाषा के विकास के बहुत बाद साहित्य विकसित होता है। वह आदिम भाषाओं का कर्ण-परंपरा चली आने वाली लोक-गाथाओं के अलावा, और कोई उल्लेखनीय साहित्य नहीं मिलता। किसी भाषा के उदय होने के बाद उसके साहित्य के सृजन में हजारों वर्ष लग जाते हैं। यदि आप भारतीय साहित्य

के उद्गम के बारे में जानना चाहते हैं तो आपको बाद की शताब्दियों में से ही देखना होगा। लेकिन संस्कृत को, जिसे वेद की भाषा कहा जा सकता है, पाणिनि और अन्य व्याकरणाचार्यों ने अच्छी तरह वर्णित और निश्चित किया। वेद की भाषा में और पाणिनि द्वारा स्वीकृत भाषा म बहुत अन्तर होते हुए भी बहुत-कुछ साम्य है। उदाहरणार्थ 'स्था' (निष्ठ्) का अर्थ 'खड़ा होना' है, वैदिक भाषा के अनुसार इसके 'स्थामि' 'स्थाव:' 'स्थाम:', रूप ठीक हैं। लेकिन आधुनिक शताब्दी की संस्कृत में 'तिष्ठामि' आदि हो गये हैं।

किन्तु जब हमको भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तब हमें केवल 'स्था' शब्द ही लेना चाहिए। यह शब्द भाषा के कई परिवारों में मिल जायगा। भारत में भारतीय आर्य भाषा तथा द्रविड़ भाषा परिवार में भी यह शब्द मिल जायगा। प्राचीनकाल में प्रयुक्त शब्दों के सम्यक् ज्ञान के लिए हमें पूर्व द्राविड़ी तथा भारतीय ईरानी दोनों विस्तृत कुलों की भाषाओं का व्यापक रूप से ज्ञान प्राप्त करना है तथा उनके तुलनात्मक व्याकरण के साथ साथ उन भाषाओं द्वारा व्यक्त संस्कृतियों का भी ज्ञान प्राप्त करना है। तो यह 'स्था' संसार में सब जगह व्याप्त है। अंग्रेजी में 'Stand', 'Status' और इसी प्रकार 'अफ़गानिस्तान' 'बलूचिस्तान', 'गोंडिस्तान' इत्यादि। मराठी में 'था' 'ठा' में परिवर्तित हो जाता है। किन्हीं संयोगों में 'स्था' समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर 'आना' रह जाता है। जैसे 'सग्जुआना', 'गोंडयाना', 'तेलंगाना'। 'तेलंगाना' का अर्थ है 'तेलंगों' का स्थान। इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि तेलुगु लोग तेलंगाना के केन्द्र भाग से विकसित हुए। इस बात की पुष्टि के लिए वहाँ के परिवारों के नाम देख सकते हैं। ये सभी तेलंगाना के हैं। हाँ, नये जातिसूचक नाम बाद में आये हैं। दो शब्द हैं 'तेलुगु' और 'आंध्र'। सभी इनमें भ्रम कर जाते हैं। आंध्र और तेलुगु को पर्याय रूप में मानने का प्रश्न है। कुमारिल भट्ट की एक उक्ति के दोषयुक्त वाचन के कारण आंध्र के बारे में मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई। जब कुमारिल भट्ट से द्रविड़ भाषाओं के सम्बन्ध में बोलने के लिए कहा गया, तो उन्होंने अपने भाषण के प्रारंभ में कहा था 'अथ द्रविड़ भाषायाम्' बाद में लोगों ने भूल से उसे पढ़ा। 'आंध्र द्रविड़ भाषायाम्' और तब यह धारणा बनी कि आंध्र और द्रविड़ भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। इस धारणा को बनाए रखने में भी कोई विशेष हानि नहीं है। परन्तु दोष वहाँ होता है, जहाँ आंध्र को तेलुगु का पर्याय माना जाता है। मैं इस बात के पक्ष में नहीं हूँ कि 'आंध्र' शब्द 'तेलुगु' के बराबर है या यह नहीं कि मुझे आंध्र पर गर्व है। ऐतरेय ब्राह्मण में

आंध्र शब्द का उल्लेख म्लेच्छ और शूद्रों के साथ किया गया है। क्या मुझे उसके लिए गर्व करना चाहिए ? इस भ्रम की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? हम लोगों को 'तेलुगु' ही कहना चाहिए। लेकिन 'आंध्र' एक रूढ़ शब्द है। इसका कारण क्या है। आंध्र तेलंगाना के बाहर की एक जाति है जिसने कालान्तर में बहुत उन्नति की और अपनी एक थलसेना भी तैयार कर ली। उन्होंने भारत का काफी बड़ा भाग अपने हाथ में ले लिया। उन्होंने काफी बड़े भाग पर बहुत दिनों तक अपना साम्राज्य स्थापित किया। यही आंध्र भूमि है। इसे आंध्र भूमि कहना इस प्रकार लगेगा जैसे ब्रिटिश भारत या पुर्तगाली गोवा; यद्यपि भारत पर बहुत दिनों तक ब्रिटिशों का शासन रहा और गोवा पर पुर्तगालियों का। इसी तरह इस भूमि पर केवल आंध्रों का राज्य नहीं रहा, बल्कि इस पर चालुक्यों, राष्ट्रकूटों तथा पल्लवों राजवंशों ने भी राज्य किया। इस तरह आँध्र संस्कृति पनपी, किन्तु यह आंध्र नाम किसने दिया ? तेलुगु के प्रथम कवि 'नन्नया' ने यह नामकरण नहीं किया। उसके बाद 'नन्ने चोड़ा' ने भी नहीं। किया चालुक्य राजाओं ने तेलुगु देश के लिए लिखा था 'आँध्र विषय'। 'विषय' का अर्थ होता है 'देश'। इसके बाद के कवियों ने तेलुगु के पर्यायवाची शब्द के रूप में आंध्र का प्रयोग किया। आज भी तेलंगाना या हैदराबाद या वारंगल के तेलुगु भाषी 'आंध्र' शब्द पर आपत्ति करते हैं। जब तेलुगु प्रान्त में हैदराबाद को मिलाकर बढ़ाया गया तब इस प्रान्त के नामकरण के पीछे बहुत मतभेद हुआ। लेकिन सरकार इस नाम को रखने में सफल हुई। जानते हैं कैसे ? एक बचकानी दलील से ! यदि आंध्र नाम रखते हैं तो राज्यों की सूची में उसका स्थान पहला होगा और तेलंगाना हो तो अन्त में।

अब मैं तेलुगु के प्रश्न पर आता हूँ। क्योंकि विषय तेलुगु भाषा और साहित्य से सम्बन्धित है। मैं नहीं जानता कि द्रविड़-परिवार में से तेलुगु भाषा कब बढ़ी और उसकी एक स्वतन्त्र शाखा बन गई। यह आप लोगों का काम है, कि इस दिशा में आगे खोज करें। प्रारम्भ से यहाँ दक्षिणी भाषाओं का एक मूल द्रविड़-परिवार था। कुछ विद्वानों का मत है कि तेलुगू भाषा का जन्म संस्कृत से हुआ है। भाषा की तुलना के लिए हमको प्रत्येक भाषा परिवार को ध्यान में रखना होगा और हमको उसी युग की विभिन्न उपभाषाओं के शब्दों को भी ध्यान में रखना होगा। विदेशी भाषाओं में 'moon' शब्द से 'चंद्र' शब्द की तुलना करना बेकार है। आप इसमें कहाँ पर बराबरी पाएँगे। वैदिक भाषाओं में 'चन्द्र' शब्द का अर्थ कभी भी 'चन्द्रमा' से नहीं लिया गया है। 'चन्द्र' का अर्थ

है केवल 'चमकना' जैसे चान्द्रलक्ष्मी, चान्द्र गौरी। चन्द्रमा के लिए शब्द होगा 'माह'। 'पूर्णमाह' का अर्थ है पूर्ण चन्द्रमा, 'चंद्रमाह' का अर्थ 'चमकीला चाँद' और अमाह का अर्थ है अमावस, याने चन्द्र नहीं। अब हमें तुलना का आधार मिलता है माह, मून, मन्थ, मेन्सम। लेकिन संस्कृत में चन्द्रमा शब्द का प्रयोग वेदों में किया गया है।

कुछ विद्वान समस्त संस्कृत को तेलुगु के 'मनुचरित्र' में ले आना चाहते थे। क्या यह तेलुगु है ? लेकिन कवि लोग साधारण मनुष्यों के लिए नहीं लिखते थे, वे राजाओं के लिए लिखते थे जिनके दरबार के वे पंडित थे। संस्कृत में पंडित का अर्थ विद्वान है। यह बात संस्कृत से ब्राह्मणों द्वारा लाई गई। इस प्रकार हम तेलुगु क्षेत्र में संस्कृत को लाये। इस काम को करने में मुख्यतः ब्राह्मणों का हाथ था। आर्यों के सम्पर्क से पूर्व साहित्य की जो वृद्धि हुई, वह विशुद्ध रूप से तमिल साहित्य थी क्योंकि आर्यों के दक्षिण में पहुँचने के बहुत पूर्व ही इसकी वृद्धि हो चुकी थी। लेकिन कुछ ही समय बाद उन्होंने भी संस्कृत को अपनाना प्रारम्भ किया। ये ब्राह्मण थे। क्या कारण है कि तेलुगु प्रदेश में ९० प्रतिशत लेखक ब्राह्मण हैं और तमिल साहित्य के ९० प्रतिशत लेखक ब्राह्मणेतर हैं ? यही कारण है कि वहाँ तमिल साहित्य की वृद्धि कितनी विशुद्ध हुई। लेकिन हमारे यहाँ केवल ब्राह्मणों ने ही साहित्य की वृद्धि की और ब्राह्मणेतर लोगों को साहित्य रचने के योग्य नहीं समझा जाता था। यह पागलपन इतना बढ़ा कि अलंकारिक 'अप्प कवि' ने अपने अलंकार ग्रंथ 'अप्पकवीयम्' में कहा 'काकदूषित-मिव शूद्रकवित्वम्'। वह अलंकार शास्त्र की रचना कर रहा था और अपने समय से पूर्व के साहित्य को उद्धृत कर रहा था। उसने शूद्रों की लिखी कविताओं का वर्णन नहीं किया। श्री कृष्णदेवराय रचित 'अनन्त मल्लु छन्द' को इस आधार पर अस्वीकार किया कि वे ब्राह्मण नहीं थे। क्या कभी राजा कोई कविता लिख सकता है ? उसके दरबारी कवियों ने राजा के नाम पर रचना की होगी और पैसा कमाया होगा। श्री कृष्णदेव राय के राजकवि थे पेद्दन वे मनुचरित्र नामक महाकाव्य के रचयिता थे। यह वही कवि है जो अनन्त छंद रचना के रचनाकार कहे जाते हैं। 'मनुचरित्र' और 'अनन्तुनि छन्दमु' की शैली में बहुत बड़ा अन्तर है। यह आप क्यों सोच लेते हैं कि एक राजा कोई रचना नहीं कर सकता। भोज को ले लीजिए। वह संस्कृत का विख्यात पंडित और कवि था। इसी तरह सिंह भूपाल ने संस्कृत में एक नाटक लिखा, जिसका अनुवाद मैंने 'रत्न पंचालिका' नाम से किया है। या इसी तरह शार्ङ्गदेव ने संगीत

पर एक प्रबन्ध लिखा। पुराने रूढ़िवादी पंडितों ने इनका विरोध किया। जब भी किसी ग्रंथ के रचयिता का वाद उठा तो ब्राह्मणों को ही उसका श्रेय मिला, चाहे उसका असली रचयिता अच्छा विद्वान क्यों न हो।' 'रंगनाथ रामायण' के रचयिता रंगनाथ नहीं थे, पर ब्राह्मण को छोड़कर दूसरे काव्य कैसे लिख सकते हैं? एक अन्य विशेषता यह है कि तेलुगु साहित्य पर आर्य संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। काव्य का नायक उच्चजाति का ब्राह्मण या क्षत्रिय होना चाहिए। कथानक प्राचीन ऐतिहासिक या पौराणिक होना चाहिए। ये आदर्श संस्कृत साहित्य से ही आये हैं। इन पुरानी, अतार्किक रूढ़ियों से लड़ने वाले कई सुधारक भी बाद में आए। ये ही वास्तव में नायक हैं।

अब जहाँ तक तेलुगु साहित्य पर बाहरी प्रभाव का प्रश्न है, सर्वप्रथम संस्कृत आती है। लेकिन मुझे आश्चर्य है कि संस्कृत नाटक तेलुगु में नहीं आये। हालांकि संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा अन्य नाटकों को काव्यरूप में परिवर्तित किया गया। इसका कारण यह है कि तेलुगु वाले नाटक और काव्य के मिले हुए 'यक्षगान' से संतुष्ट थे। इनका प्रणयन सुदूर दक्षिण के तंजौर, मदुरा में सामान्य बोलचाल की भाषा में किया गया। पुराना तेलुगु व्याकरण संस्कृत व्याकरण पर आधारित है। तेलुगु में केवल ४ कारक होते हैं, किन्तु संस्कृत की तरह सातों कारकों का वर्णन किया जाता है। १९वीं शताब्दी में यहाँ एक संस्कृत नाटक का प्रचार हुआ, किन्तु अँग्रेजी के आगमन से उसका महत्त्व एकदम समाप्त हो गया। अँग्रेजी का प्रभाव संस्कृत के बाद तेलुगु पर पड़ा। विद्यार्थी जो स्कूलों और कालेजों में पढ़ते थे वे अँग्रेजी कविताओं का अनुवाद करते थे तथा उसी के आधार पर नई कविताएँ लिखने का प्रयत्न करते थे। अनुवाद, रूपान्तर, अनुकरण और मूल लेखन ये चार सीढ़ियाँ हैं। तेलुगु पर अँग्रेजी का प्रभाव बहुत अधिक मात्रा में पड़ा है। आधुनिक युग में कुछ राजनैतिक लोग रूसी भाषा भी पढ़ने लगे हैं। कुछ हद तक रूसी भी आर्यों की ही भाषा है। सैकड़ों रूसी और संस्कृत शब्द आपस में मिलते हैं और भी कई विदेशी भाषाओं के शब्द हैं जो हमारे यहाँ मिलते हैं। पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अँग्रेज और डच भारत में आये। लेकिन अँग्रेज लोग ही हमारे देश में बहुत अधिक समय तक रहे। ब्रिटिश शासन के समय बहुत दिनों तक भारतीय लोग शृंगारी या विलासी रहे। उन्होंने अँग्रेजी को अपनाया, उन्हें अँग्रेजों के रीति-रिवाज, तौर-तरीकों को अपनाना पड़ा। उन्होंने अँग्रेजी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों को अपनाया।

मैंने एक बहुत लम्बा विषय लिया है—'तेलुगु भाषा पर बाहरी प्रभाव'। और ये प्रभाव आज अधिक दिखाई पड़ते हैं। सन् १९१३ तक रवीन्द्रनाथ टैगोर को बहुत ही कम तेलुगु-भाषी जानते थे। गुरजाडा अप्पराव और मेरे पिताजी आदि कुछ ही लोग उनसे परिचित थे। लेकिन जब उन्हें नोबुल पुरुस्कार प्राप्त हुआ, तब भी बंगाल के लोग उन्हें कम आदर देते थे। परीक्षाओं में टैगोर के लिखे हुए वाक्य विद्यार्थियों को सुधारने के लिए दिए जाते थे, क्योंकि टैगोर ने कभी भी व्याकरण के नियमों को नहीं अपनाया। लेकिन आज टैगोर हर एक के मस्तिष्क में हैं। और उनकी लघु-कहानियाँ, कविताएँ, नाटक इत्यादि सबका तेलुगु में अनुवाद किया जा रहा है। यह बाहरी प्रभाव है। जहाँ तक बच्चों के साहित्य का प्रश्न है, पूर्वज लोग इस क्षेत्र में बहुत आगे थे। आप जानते हैं वे 'स्थानीय' कवि थे, वे जानवरों की बोली को उनके भाव को जान सकते थे, पर आज हमने वह शक्ति खो दी है। बच्चों के साहित्य को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। किसी ने भी लोक गीतों को कोई महत्त्व नहीं दिया। आज हम इनकी ओर ध्यान दे रहे हैं। आज इनको सुनना और देखना एक फैशन बन गया है। हमारे नाटकों को भी ठुकराया गया था। लेकिन आज विदेशी प्रभाव के कारण इनको चेतना मिल रही है। बच्चों का साहित्य भी पनप रहा है। मैं ही प्रथम व्यक्ति था जिसने बच्चों के साहित्य को तेलुगु में बढ़ावा दिया, लेकिन उस समय मेरा समर्थन किसी ने नहीं किया। बहुत कठिनाइयों के द्वारा इनका प्रकाशन एक तेलुगु पत्रिका में हुआ जो कि एक ईसाई महिला द्वारा प्रकाशित होती थी। अब केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकार इस साहित्य पर लाखों रुपया खर्च कर रही है, इस साहित्य को प्रोत्साहन दे रही है।

मैं पुनः इस विषय पर कुछ कहने का सुअवसर पा सकता हूँ। पर यह जो किसी भी भाषा पर बाह्य प्रभाव है, यह बहुत बाद की चीज है। पहले तेलुगु पर संस्कृत का ही प्रभाव जाना जाता था। लेकिन अधिक गौर से देखने पर पता चलता है कि तेलुगु पर मलयाली इत्यादि अनेक भाषाओं का प्रभाव है।

★

श्री भूदेव शास्त्री

इस संगोष्ठी का विषय है, 'साहित्य पर बाह्य प्रभाव–भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में''। इस विषय को सुनकर मेरे मन में निम्न लिखित प्रश्न उठ खड़े हुए :

(१) साहित्य शब्द से क्या अभिप्रेत है ?

(२) प्रभाव किसे कहते हैं ?

(३) प्रभाव कितनी दृष्टियों से आन्तरिक अथवा बाह्य हो सकते हैं ?

(४) किन किन प्रभावों को स्वीकार करने या न करने में साहित्यकार स्वतंत्र होता है ?

(५) प्रभावों को स्वीकार करने या न करने में साहित्यकार की कसौटी क्या होनी चाहिए ?

इन प्रश्नों को लेकर मेरे मन में जो ऊहापोह चला, उसे मैं संक्षेप में आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ।

प्रथम प्रश्न है 'साहित्य' शब्द से क्या अभिप्रेत है ? 'साहित्य' शब्दार्थ होता है, 'हित प्रतिपादक वाक्यों का समूह'। चाहे मानसिक जीवन के ज्ञान, अनुभूति तथा क्रिया, इन पहलुओं को दृष्टि में रख कर विचार करें और चाहे प्रसिद्ध सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को दृष्टि में रखकर, मानव के अन्तिम हित ज्ञानात्मक एवं रसात्मक ही सिद्ध होते हैं। साहित्य में इन्हीं हितों का प्रतिपादन

होता है। इसी दृष्टि से सम्पूर्ण साहित्य को ज्ञान-साहित्य एव रस-साहित्य में विभक्त किया जाता है। डीक्विसी ने इन्हीं दोनों को क्रमशः 'ज्ञान का साहित्य' और 'शक्ति का साहित्य' कहा है।

प्रसंगवश यह विचार कर लेना भी उचित होगा कि साहित्य के उन दोनों प्रकारों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। मानव दो प्रकार के परिवेशों अर्थात् भौतिक परिवेश तथा सामाजिक परिवेश से घिरा रहता है। इन्द्रियों के माध्यम से वह उन परिवेशों के सम्पर्क-संघर्ष में आता है। इस सम्पर्क-संघर्ष की प्रतिक्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम अनुभवात्मक और द्वितीय अनुभूत्यात्मक। अनुभवात्मक प्रतिक्रिया सामान्यीकरण प्रक्रिया द्वारा ज्ञान रूप में परिणत होकर ज्ञान साहित्य में समाविष्ट हो जाती है। प्रत्येक अनुभवात्मक प्रतिक्रिया अत्यवहित रूप में किसी न किसी प्रकार की अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रिया को अवश्य जन्म देती है। यह कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि अनुभूति-कर्त्ता उसे अभिव्यक्ति दिये बिना एक प्रकार की बेचैनी अनुभव करता है। फलतः वह उसे उस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि उसे सुन या पढ़ कर अन्य व्यक्ति के हृदय में भी वैसी ही अनुभूति उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की समष्टि को 'रस-साहित्य' कहा जाता है।

रस-साहित्य को पृष्ठ भूमि के रूप में जितना ज्ञान अपेक्षित होता है, उतने के लिए वह ज्ञान-साहित्य पर आश्रित होता है। ज्ञान-साहित्य का उतना अंश उसके स्वरूप का अविनाभूत भाग होता है। यह साहित्यकार के व्यक्तित्व का अंश बन करके रस-साहित्य में प्रकट होता है। कभी कभी साहित्यकार अपनी ऐसी अनुभवात्मक प्रतिक्रियाओं को भी रस-साहित्य में स्थान दे देता है, जो अभी तक ज्ञान-साहित्य में समाविष्ट नहीं हुई हैं। उन्हें भी एक प्रकार से ज्ञान-साहित्य का अंश ही मानना चाहिए, क्योंकि यदि वे अनुभव वास्तविक होते हैं तो आगे चलकर ज्ञान-साहित्य का भाग बन जाएँगे। इस प्रकार ज्ञान-साहित्य और रस-साहित्य परस्पर सम्बद्ध रहते हैं।

जैसे जैसे ज्ञान-साहित्य का विस्तार होता जाता है और साहित्यकार उससे परिचित होता जाता है, वैसे वैसे उसके साहित्य में विचारों, अनुभूतियों तथा अभिव्यंजना-विधियों के नये नये रूपों के दर्शन होने लगते हैं। उसके पहले साहित्य की तुलना में उसके नये साहित्य में जो अन्तर आ जाता है वह नये अध्ययन तथा अनुभव के स्वाभाविक आत्मीकरण के परिणामस्वरूप उसके अन्तर्जगत में हुए परिवर्तनों के कारण होता है। साहित्यकार उन परिवर्तनों

को जान-बूझकर साहित्य में नहीं लाता, अपितु वे उसके समन्वित व्यक्ति का ग्रंश होने के कारण स्वतः आ जाते हैं। साहित्यकारों का साहित्य इसी प्रकार अधिकाधिक विकसित और समृद्ध होता रहता है।

द्वितीय प्रश्न है : प्रभाव किसे कहते हैं ? भौतिक अथवा सामाजिक परिवेश के उस दबाव को प्रभाव कहना चाहिए, जो परिवेशित सत्ता के सामान्य रूप में विद्यमान तत्त्वों में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक परिवर्तन ला देने के लिए सक्रिय रहता है। अपनी इस परिभाषा को मैं थोड़ी-सी व्याख्या करके स्पष्ट करना चाहूँगा। प्रत्येक व्यक्ति और साहित्यकार भौतिक एवं सामाजिक परिवेशों से घिरा रहता है। अनेकानेक कारणों से उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। परिवेश के बदले हुए तत्त्व व्यक्ति के व्यक्तित्व से टकराने और उसको परिवर्तित करने के लिए दबाव डालने लगते हैं। इन दबावों को हम प्रभाव कह सकते हैं। इस प्रसंग में सामाजिक परिवेश शब्द को उसके व्यापकतम अर्थ में लेकर बदली हुई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों तथा नये नये विज्ञानों, दर्शनों तथा प्रविधि-विज्ञानों को उसमें समाविष्ट कर लेना चाहिए।

तीसरा प्रश्न है : प्रभाव कितनी दृष्टियों से आन्तरिक एवं बाह्य हो सकते हैं ? जब परिवेश के बदले हुए तत्त्व व्यक्तित्व पर दबाव डालने लगते हैं, तब व्यक्ति के सामने दो विकल्प उपस्थित हो जाते हैं, वह या तो उन दबावों के औचित्य को मान्यता देकर उनके अनुसार अपने व्यक्तित्व को संशोधित कर ले या उन दबावों से लड़े। जिन दबावों को उसकी बुद्धि और हृदय उचित मानते हैं, उन्हें वह स्वीकार करके अपने आपको—अपने स्वभाव को बदल लेता है। यह संशोधन वह विवशता की अनुभूति के साथ न करके अपने व्यक्तित्व के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की पूर्ति के रूप में करता है। अब यह संशोधित व्यक्तित्व उसके साहित्य में बोलने लगता है। साहित्य पर यह प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व में होकर आता है।

जब साहित्यकार परिवेश के प्रतिकूल तत्त्वों से लड़ने का निश्चय करता है तब कभी तो वह परिवेश को बदलने में सफल हो जाता है और कभी परिवेश उसे पराजित कर लेता है। जब परिवेश उसे पराजित कर लेता है और वह अन्तः प्रेरणा से नहीं अपितु विवशता की अनुभूति के साथ साहित्य-रचना करता है, तब यह परिस्थिति भी उसके साहित्य में बोलती है। साहित्य पर यह प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व में से होकर नहीं आता। ये प्रभाव वस्तुतः साहित्य-

कार की विवशता की अभिव्यक्ति करते है, उसके वास्तविक भाव जगत की नहीं।

इन दोनों प्रभावों में से प्रथम को हम आन्तरिक तथा द्वितीय को बाह्य कहेंगे। जगत् और जीवन के प्रति अपनी वास्तविक अनुभवात्मक एवं अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी भी परिस्थिति के दबाव को बाह्य प्रभाव ही माना जाएगा। साहित्यकार के राग, द्वेष, लोभ, मोह तथा यश, अधिकार अथवा धन प्राप्ति की आकांक्षा आदि को द्वितीय वर्ग में ही रखा जायगा।

यदि साहित्य को समग्र रूप में न लेकर उसे ज्ञानप्रदत्ता तथा शक्तिप्रदत्ता अथवा देश, काल तथा वर्ग आदि की विभिन्न सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए लिया जाए, तो उसे ज्ञान-साहित्य, शक्ति-साहित्य, भारतीय साहित्य, जर्मन साहित्य, रूसी साहित्य, प्राचीन साहित्य, मध्यकालीन साहित्य, आधुनिक साहित्य, सामन्ती साहित्य, सर्वहारा साहित्य आदि अनेक प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार के अपने देश, काल तथा वर्ग से बाहर के परिवेश से आने वाले दबावों को बाह्य तथा उनके भीतर के परिवेश के दबावों को आन्तरिक कहा जायगा। इस दृष्टि से शक्ति साहित्य पर क्रमशः विकसित एवं समृद्ध होते हुए ज्ञान-विज्ञानों का जो प्रभाव पड़ता है, उसे बाह्य कहा जायगा। भारतीय साहित्य पर जो प्रभाव यूरोप के साहित्य का पड़ा है, उसे भी बाह्य ही कहा जायगा। प्रभावों का आन्तरिक एवं बाह्य वर्गों में यह विभाजन स्थिर न होकर लचीला ही रहेगा, क्यों कि यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि साहित्य को किस सीमा में बाँध कर विचार का विषय बनाया जा रहा है।

चौथा प्रश्न है : किन किन प्रभावों को स्वीकार करने या न करने में साहित्यकार स्वतन्त्र होता है? साहित्यकार अपने साहित्य में या तो शंसन करता है अथवा कान्तासम्मिततया शासन। या तो वह यथार्थ का चित्रण करता है या वह जो कुछ होना चाहिए, उसका संकेत करता है। फलतः उसमें व्यक्ति, देश और काल झाँकते रहते हैं। जो प्रभाव देश और काल के स्वभाव बन जाते हैं, अथवा जो साहित्यकार की विवशता और असावधानी के कारण उस पर लद जाते हैं, उन्हें स्वीकार करने अथवा न करने में वह साधारणतया स्वतन्त्र नहीं रहता। आज के युग भी वैधानिकता तथा प्रविधि, जनतन्त्रीय समाजवाद, मन के किसी कोने में पड़ा हुआ, असम्बद्ध परन्तु उग्र विचार और व्यक्तिगत अभाव ये सब इसी श्रेणी में रखने योग्य हैं। स्वाध्याय तथा देशाटन द्वारा अपना विकास करने तथा उसकी सहायता से अपने साहित्य को समृद्ध

करने के लिए जान-बूझकर संकलित नये अनुभवों के प्रभावों को स्वीकार करने या न करने में साहित्यकार स्वतन्त्र होता है। साधना तथा कष्ट सहन का मार्ग पकड़कर वह अनेक विवशताजनित प्रभावों को भी अस्वीकार कर सकता है। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने फिलमी दुनियाँ के प्रभावों को इसी मार्ग पर चलकर अस्वीकार कर ही दिया था।

पांचवाँ प्रश्न है : प्रभावों को स्वीकार करने तथा न करने में साहित्यकार की कसौटी क्या होनी चाहिए ? यह प्रश्न बहुत टेढ़ा है। साहित्यकार को इस विषय में महाकवि कालिदास का

"सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः"

वाक्य सदैव स्मरण रखना चाहिए। देश, काल, जाति तथा भाषा आदि की भिन्नताओं के कारण कोई प्रभाव उसे अस्वीकार नहीं होना चाहिए। अन्ततोगत्वा मानव तथा उसके परिवेश दोनों ही अखण्ड हैं। परन्तु उसे सर्वभक्षी भी नहीं बन जाना चाहिए। सामान्यतया उसे अपनी कल्पना के अनुसार समाज के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के समन्वय को अपनी कसौटी बनाकर चलना चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे अपने स्वस्थ जीवन-दर्शन को कसौटी बनाकर चलना चाहिए।

जीवन-दर्शन की बात मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ। साहित्यकार केवल सौंदर्य का ही स्रष्टा होता है, यह बात मुझे स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती। साहित्यकार के सुन्दरं को शिवं एवं सत्यं भी होना चाहिए। अथवा कम से कम उसे उनका विरोधी तो नहीं होना चाहिए। यदि सुन्दर की परिभाषा इस प्रकार व्यापक बना ली जाए कि उसमें सत्यं और शिवं भी समाहित हो जाए तो कोई आपत्ति की बात नहीं है, आजकल कला, संस्कृति तथा सौन्दर्य के साथ चारित्रिक भ्रष्टता का जो अविनाभाव सा दिखायी देता है। उसे दृष्टि में रखते हुए इस विषय में साहित्यकार को विशेष सावधान रहना चाहिए।

प्रत्येक कवि का जीवन-दर्शन प्रायः उसके राष्ट्र के जीवन-दर्शन से प्रभावित होता है। इसलिए जीवन-दर्शन की बात सुनकर कुछ लोग अन्तर्-राष्ट्रीयता की दुहाई देने लगेंगे। इस विषय में मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि अपने देश की जनता अभी तक पूरी तरह राष्ट्रवादी भी नहीं हो पाई है। पहले उसे राष्ट्रवादी ही बनना चाहिए जिससे वह बिरादरी, भाषा तथा प्रान्त आदि की भावनाओं से मुक्त होकर तो सोचने लगे। अपने देश की वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्रीयता का विरोध करके अन्तर्राष्ट्रीय बनने की इच्छा मुझे पिता बने बिना

पितामह बनने की इच्छा के समान लगती है। फलतः इस विवाद का अपने देश के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं है।

साहित्यकार को नवीनता से घबराना नहीं चाहिए परन्तु रचना नवीनता के लिए नहीं प्रगति के लिए होनी चाहिए। संगठित व्यक्तित्व के भीतर से फूट पड़ने वाली नवीनता सदैव वरणीय होती है। साहित्यकार को यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि जो नवीनता क्षणिक मूल्यों पर आधारित होगी, उसे कालाग्नि खा जाएगी। यदि वह चाहता है कि उसका साहित्य अमर रहे, तो शाश्वत मूल्यों की ही उपासना करनी चाहिए, क्षणिक मूल्यों की नहीं।

भारतीय साहित्य अर्थात् भारतीय भाषाओं का साहित्य निरन्तर परिवर्तित, विकसित एवं समृद्ध हो रहा है। किसी भी भाषा के साहित्य को लेकर यह कहा जा सकता है कि वह अपने पूर्ववर्ती रूप से बहुत बदल गया है, गुण में भी और परिमाण में भी। उन पर पड़े हुए प्रभावों में से कौन किस किस दृष्टि से बाह्य तथा आन्तरिक है, यह विस्तृत समीक्षा से ही जाना जा सकता है। उसके लिए कदाचित् समय नहीं है। मैं तो अपने प्रति ईमानदार रहकर आत्मसात्-कृत प्रभावों को आन्तरिक तथा विवशता में गृहीत प्रभावों को बाह्य मानता हूँ दो भिन्न व्यक्तियों के सन्दर्भ में एक ही प्रभाव आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही हो सकता है। कोई प्रभाव एक बार साहित्य में आकर परवर्तियों के लिए आन्तरिक ही हो जाता है।

★

डा० तेजनारायण लाल

यों तो कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना, निबन्ध आदि साहित्य की अनेक विधाएँ हैं, किन्तु प्रस्तुत विषय को प्रतिपादित करने के लिए केवल नई कविता की विधा को ही चुना गया है। आज के वैज्ञानिक युग में भाव की अपेक्षा बुद्धि को ही अधिक प्रधानता दी जा रही है। नई कविताओं में भावों को वैचारिकता से बोझिल बनाया जा रहा है। आधुनिक साहित्य विज्ञान के प्रभाव से वंचित नहीं है। विज्ञान से उसे शक्ति तथा सत्य की उपलब्धि हुई है। प्राचीन काल में वीर रस की कविताएँ लिखी जाती थीं और उन्हें सुनकर वीरों की भुजाओं में तलवारें फड़कती थीं। परन्तु आज तलवार के स्थान पर बन्दूक, परमाणु बम आ गए हैं। जिस भय ने वीरता को जन्म दिया था उस भय को आज विज्ञान ने भगा दिया है और अब तो पुराने अन्ध विश्वास, अतार्किक मान्यताएं ढह रही हैं। करुण रस की कविताओं की सर्जना इसलिए अधिक हो रही है कि जिस वैज्ञानिक आविष्कार के द्वारा मानवता की रक्षा हो सकती है उसके विपरीत उसका विनाश हो रहा है। यह भी सत्य है कि विज्ञान ने कम प्रयत्न में ही अधिक सुविधाएँ प्रदान की हैं, दूरी को निकटता में परिणत कर दिया है, किन्तु उसने मानवता को कम संत्रस्त और ध्वस्त नहीं किया है। नई कविताओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ अधिक मुखरित हुआ है। विज्ञान से उन्हें केवल अन्तर्दृष्टि ही नहीं मिली है, बल्कि कवि की ऊँची-ऊँची कल्पनाओं को विज्ञान ने साकार भी कर दिया है। आज की नई कविताओं पर विज्ञान का प्रभाव इस

रूप में पड़ा है कि विज्ञान ने उनमें सक्रियता, शक्ति और सक्षमता प्रदान की है। यदि आज हमारे देश में भी परमाणु बम का आविष्कार हो जाए तो निश्चय ही हमारे सामाजिक जीवन का ढाँचा बदल जायगा, एक नवीन उल्लास, उत्साह और उमंग की लहर थिरक उठेगी और हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकेगा। तथाकथित कुछ पुराने समालोचकों के मूल्यांकन की दकियानूसी परम्परा भी टूट जायगी और उन्हें नई दिशाएँ दृष्टिगोचर होंगी। साहित्य की सर्जना भी नए रूप में होने लग जाएगी।

ऐसा लगता है कि नई कविताएँ नवीन समाज की ओर संकेत कर रही हैं और रूढ़िवादिता के कटघरे से निकल कर सहजता, सरलता और सुस्पष्टता की ओर उन्मुख हो रही हैं। अवश्य ही कुछ टुटपूँजिये नए कवियों ने नई कविताओं के मर्म को न समझकर कूड़ा-कर्कट दे करके साहित्य-साधना की अवहेलना की है और उनकी कृतियों के कारण नई कविताओं का दम घुटने लगा है कुछ हद तक उन्हें बदनाम भी होना पड़ रहा है, किन्तु इन सब अड़चनों के बावजूद भी उनमें सप्राणता है, जीवन्तता है और आगे बढ़ने की अमोघ शक्ति। सच तो यह है कि नई कविताएँ युग की आवश्यकता को भली-भाँति समझती हैं। उनमें दैनिक जीवन की निकटतम वस्तुओं को लेकर नवीनतम भावोन्मेष करने की पर्याप्त शक्ति है। नई कविताओं को लिखने वाले कवि प्रायः सभी प्रदेशों में विद्यमान हैं और खूब लिख रहे हैं। इस वैज्ञानिक युग में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अस्त-व्यस्त, भय-ग्रस्त है और है उलझन से ओतप्रोत। उसके जीवन की समस्याएँ जटिल हैं और विषम परिस्थितियों से घिरा हुआ है, उससे आकुल-व्याकुल है। आदिकाल से ही वह अतृप्ति, कुंठा की भूख लेकर आया है और कविता भी उसके जीवन की एक अमिट भूख है। वह दो जगत में रहता है—आन्तरिक और बाह्य-जगत में। उसका आन्तरिक जगत बाह्य जगत की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है। लेकिन दोनों जगत एक दूसरे से प्रभावित होते हैं, संस्कृति और सभ्यता की भाँति दोनों का सम्बन्ध पारस्परिक है। 'स्व' के द्वारा 'पर' को जानने की प्रेरणा भी इन्हीं दोनों जगत के द्वारा उसे मिली है। अपने 'स्व' की भावना से जो जितना ही ऊपर उठ सका है उसका संस्कार उतना ही परिमार्जित कहा जाता है और इस प्रकार सामुदायिक संस्कार ही संस्कृति है। संस्कृति मानव का आन्तरिक उदात्त गुण है और सभ्यता है बाह्य गुण। मेकआइवर ने ठीक ही कहा है कि हमारी संस्कृति वह है जो हम हैं और सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते हैं। संस्कृति

का प्रत्यक्ष दर्शन सभ्यता में होता है—आचार-विचार एवं व्यवहार में होता है। साहित्य संस्कृति को अभिव्यक्ति करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों द्वारा ही बाह्य जगत का नियन्त्रण करता है, उसकी सीमा को बनाता है और बदलता भी है। यह प्रकृति अपनी परम्परा को बनाए रखने के लिए सृजन करती रहती है और इसी से उसके सौंदर्य में आकर्षण है और है उस आकर्षण में आनन्द। मानव युग-युगों से उसके प्रति आकृष्ट होता आ रहा है। सौंदर्य की सूक्ष्मतम अनुभूति से मानव की कामना-वासना संयमित एवं परिष्कृत होती है। उसमें मानवता पनपती है और सुसंस्कृत व्यक्ति ही सौंदर्यानुभूति की गहराई में उतर सकता है। साहित्य की विशिष्टता यही है कि वह असुन्दर को भी सुन्दर रूप में निरूपति करता है। जिस साहित्य में गहरे भाव होते हैं, व्यापक दृष्टिकोण होते हैं वह सर्वोत्तम माना जाता है। हमारे जीवन में जो गति है, प्रेरणा है, सुख-दुःख के भाव हैं, साहित्य उन्हीं की अभिव्यक्ति है। साहित्य हमारे जीवन की अस्पष्टता को स्पष्ट करता है उसे मधुरतम बनाता है। जीवन गति है और साहित्य है उसकी मधुर भावना। जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ हैं। जीवन के बिना साहित्य का अस्तित्व सम्भव नहीं। साहित्य हमारे चेतन और अचेतन मन की भिन्नता एवं संघर्ष को सुन्दरतम रूप में निरूपित करता है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में जिन भावों को निरूपित करता है वे ही भाव हमारे मन में भी तरंगित हो जाते हैं और हम साहित्यकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और इसी अनुभूति को रस कहते हैं। साहित्य से हममें सहानुभूति की शक्ति बढ़ती है और भाव-साम्य के कारण समस्त मानव-जाति एक परिवार बन जाती है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य विश्वजनीन भावनाओं को लेकर लिखा जाता रहा है और उसने मानवता की रक्षा करने में आज के वैज्ञानिक युग में भी कोई कोरकसर नहीं उठा रखी है। यदि भारतीय संस्कृति अति उदार और प्राचीन है तो उसको सुरक्षित रखने में साहित्य का ही हाथ है।

साहित्य में बाह्य प्रभाव की बात कही जाती है तो हमारा ध्यान आन्तरिक प्रभाव की ओर बरबस खिंच जाता है। आन्तरिक प्रभाव का सम्बन्ध अनुभूति से है और बाह्य प्रभाव का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से। यदि अनुभूति को हम भावपक्ष और अभिव्यक्ति को कला पक्ष कहें तो यह स्पष्ट हो सकता है। कला-पक्ष के अन्तर्गत भाषा-शैली, छन्द, अलंकार आदि को लिया जा सकता है और

कवि की स्वानुभूति जितनी ही मार्मिक एवं तीव्र होगी वह उतना ही बाह्य प्रभावों को अपनी कलाकृति में रचा-पचा सकेगा, उन्हें आत्मसात कर नवीनतम रूप देने में समर्थ हो सकेगा। यह बात उसकी साधना पर निर्भर करती है। अनुभूति कविता की आत्मा है और अभिव्यक्ति है उसका शरीर। दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। क्रोचे की स्थापना है कि कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति और जीवन में कोई सौंदर्य नहीं। जो कुछ सौंदर्य है वह अभिव्यक्ति में है और उन्होंने आन्तरिक अनुभूति को अभिव्यक्ति से अभिन्न माना है। आन्तरिक अनुभूति में कवि अपनी भावुकता से विवश हो जाता है और बाह्य अभिव्यक्ति में वह उन्मुक्त रहता है। उन्होंने कला के साथ उपयोगिता को महत्त्व दिया है और उनका यह कथन है कि उपयोगिता ही सौंदर्य का रूप धारण कर लेती है। यही उपयोगितावाद भौतिकवाद को उत्पन्न करता है और समाज इससे खूब प्रभावित है। कविता में जिस अनूभूति की चर्चा की जाती है उसका सम्बन्ध सौंदर्य से है। यह सौंदर्य भी दो प्रकार का है—आध्यात्मिक या स्थायी और भौतिक या अस्थायी। कुछ आचार्यों ने यह कहा है कि सौंदर्य वह है जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करता है, जितनी बार उसे हम देखते हैं उतनी ही बार वह नवीन रूप में दृष्टिगोचर होता है। रामचरित-मानस इसका ज्वलन्त प्रमाण है। कुछ लोग सौंदर्य को वस्तु की पूर्णता में मानते हैं तो कुछ लोग सामंजस्य, सन्तुलन और एकरसता को प्रधानता देते हैं। कुछ लोगों की स्थापना यह है कि सौंदर्य वस्तुगत गुणों के ऐसे सामंजस्य को कहते हैं जो हमारे भावों से साम्य उत्पन्न करके हमें आनन्द प्रदान करता है। सौंदर्य इसका वस्तुगत पक्ष है।

जिस प्रकार भक्ति काल में निर्गुणवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सगुण-वाद चल पड़ा, उसी प्रकार छायावाद के विरुद्ध प्रगतिवाद प्रतिक्रिया मात्र है। छायावादी कवि अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा को व्यक्त करता है तो प्रगतिवादी कवि समस्त समाज के सुख-दुःख को अभिव्यक्त करता है। छायावादी कवि अपनी आध्यात्मिक संतृप्ति तो कर सकता है, परन्तु दीनहीन, दलित-गलित मानव को रोटी के राग के प्रति प्रगतिवादी अग्रसर होता है। वह समाज को निष्क्रियता से दूर कर कर्मठता और चेतनशीलता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह कि प्रगतिवाद समय की आवश्यकता के अनुसार आया है और प्रयोगवाद या नई कविता उसके पश्चात्। नई कविताओं के मुक्तक छन्द में कुछ दिनों तक एक स्वच्छन्दता, अस्पष्टता आ गई थी, वे अब धीरे-

धीरे दूर होती जा रही हैं। उनमें सन्तुलित लय, गति, संगीत आ रहे हैं। उनमें गहरी अनुभूति, सजग दृष्टिकोण और तीव्र जीवन-बोध हैं। इस वैज्ञानिक युग की बदलती हुई परिस्थितियों में नये कवियों की अनुभूतियाँ करवट बदल रही हैं। नई कविताओं में मानव जीवन की अन्तर्वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है। मनुष्य के भिन्न-भिन्न, विचार-विकार आदि एक दूसरे से टक्कर लेकर क्या-क्या उत्पन्न करते हैं, विभिन्न परिस्थितियों में मानसिक विकारों के पारस्परिक संघर्ष से कौन-कौन सी अनुभूतियाँ उत्थित होती हैं इन्हीं की अभिव्यक्ति नई कविताओं में होती है। स्पष्ट है कि वैयक्तिक भावों के निरूपण में अनुभूति की अभिव्यक्ति अपरिहार्य है, अनिवार्य है। नये कवि अपने अहम् की अभिव्यञ्जना से वंचित नहीं हैं। आज तो बौद्धिक जागृति के कारण भयंकर मानसिक द्वन्द्व चल रहा है। भाव और बुद्धि का संघर्ष, आलोड़न-विलोड़न संसार की भाव धारणा को नवीनतम रूप दे रहा है। इस दृष्टि से नए कवि मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं और अपनी अतृप्त वासनाओं, कुंठाओं को भी अभिव्यक्त करते हैं। वे प्रायः बोलचाल की भाषा को अपनाते हैं। नई कविताओं पर पश्चिमी देशों की कविता-कला के प्रभाव की अपेक्षा लोक गीतों का प्रभाव अधिक है। आज अपनी समस्त दुरूहता के बावजूद भी नई कविताएँ बोल-चाल की भाषा में लिखी जा रही हैं और अपने आप में ये बड़ी उपलब्धि है। उनमें लोक गीतों के शब्दों, मुहावरों, तर्जों, धुनों का समावेश है। प्राचीन काल में जो स्थान चरित्र का था वही स्थान नई कविताओं में 'बिंब' या 'प्रतीक' को दिया जा सकता है और यह युग की आवश्यकता भी है। युग की परिस्थिति के अनुसार नए-नए शब्द ढलते हैं, उनके अर्थ बनते हैं और बदलते हैं, उनके बिना नई कविताएँ आगे चल नहीं सकतीं। नई कविताओं की विशिष्टता एवं नवीनता सबसे अधिक बिम्बों में ही परिलक्षित होती है। कविता में बिम्ब जीवित यथार्थ के द्वारा प्रतिष्ठापित होते हैं और उनसे वस्तु के साथ कवि के रागात्मक सम्बन्धों के सूत्र का पता चलता है। अतः बिम्बों का नयापन सत्य को आत्मसात करने की प्रक्रिया ही यह जीवन और युग की माँग है। कवि श्री भवानीप्रसाद के शब्दों में—

शब्द टपटप टपकते हैं फूल से।
सही बन जाते हैं मेरी भूल से॥

नई कविताएँ जितना कहती नहीं, उतना कहीं अधिक इशारा करती हैं।

★

डा० व्रजभूषण शर्मा

मैं आपके सामने हिन्दी के ऊपर अँग्रेजी भाषा के प्रभाव के विषय में अपने विचार रखूँगा।

भाषाएँ और साहित्य जब दूसरी भाषा और साहित्य के सम्पर्क में आते हैं तो कई रूप से अपना प्रभाव डालते हैं। हिन्दी भाषा के ऊपर भी इस प्रकार के प्रभाव पड़े हैं और उनका होना किसी कारण अवांछनीय नहीं है। परन्तु यदि यह प्रभाव उन दिशाओं में पड़ गया जिनसे हिन्दी की शक्ति क्षीण हो गई और उसकी अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्तियाँ कम हो गईं तो यह प्रभाव अच्छा नहीं माना जाएगा। दूसरी जो बातें उसकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के सम्बन्ध में कही गई इनकी ओर भी हमको ध्यान रखने की आवश्यकता है। कारण यह है कि भाषा जिस वातावरण में जन्म लेती है, पलती है, उसकी संस्कृति, जलवायु और परम्पराएँ उसके साहित्य में सुरक्षित रहती हैं। मैंने आपके सामने सैद्धान्तिक रूप में जो बातें कही हैं उनके कुछ उदाहरण रखूँगा और उन दिशाओं की ओर संकेत करूँगा जिधर आगे कार्य करने की आवश्यकता है। हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने योग्य, यानी हिन्दीतर प्रान्तों में अन्य भाषा-भाषी व्यक्तियों को पढ़ाने में हिन्दी की शक्ति दूसरे प्रभावों से दब कर कम न हो जाए, इसका भी हमें ध्यान रखना चाहिए।

हम लोगों की भाषा का जन्म संस्कृत से हुआ, यह सभी मानते हैं। परन्तु अब उसका संस्कृत से सम्बन्ध उतना अधिक नहीं रह गया। मैं केवल भाषा के

विषय में कह रहा हूँ। उसका सम्बन्ध संस्कृत से इतना ही है कि संस्कृत के प्रचलित शब्दों में से हम लोग बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं और बहुतों का नहीं भी करते हैं। लेकिन उसका ढाँचा बिल्कुल बदल गया है और उससे अगर मिलता-जुलता ढाँचा किसी भाषा का है तो अँग्रेजी का है, जो उसी रूप में विश्लेषित भाषा है। सम्भवतः इस कारण उसके ऊपर अँग्रेजी के ढाँचे का और वाक्य-विन्यास का प्रभाव भी अधिक पड़ रहा है। प्रारम्भ में जो हिन्दी लिखी गई थी उसके ऊपर संस्कृत के ढाँचे का प्रभाव था। अब वह प्रभाव अँग्रेजी के ढाँचे का पड़ रहा है और हिन्दी में जो शक्तियाँ थीं वे धीरे-धीरे कम होती चली जा रही हैं। उदाहरण रूप में यह जो 'ही' हैं, इसका प्रभाव हिन्दी के लिए बड़ा शक्तिशाली है। अँग्रेजी में कहते हैं—'Spit here'। इसमें वह शक्ति नहीं है जो इसमें है कि 'यहीं थूकिए'। 'Spit here' का अर्थ है आप यहाँ से होते जाएँ तो यहाँ थूकते जाएँ। हमने समझ लिया है कि मतलब यह है कि यदि आपको थूकना हो तो यहीं थूकिए। यह हिन्दी में 'ही' जो है वह उस प्रभाव को निश्चित कर देती है। इसी प्रकार "तो"—"बैठिये तो," इसी प्रकार भर। 'ही', 'भर', 'तो'—ये जो शब्द हैं वे हिन्दी के अपने हैं। इसी प्रकार "अपना" शब्द भी है, "आप" शब्द भी है। इनके प्रयोग जो हैं 'वे' अपने हैं। दूसरे प्रकार से हिन्दी की जो शब्द-रचना है, उसमें उसके अर्थ व्यवत करने की तरकीबें बहुत विस्तृत हैं। हिन्दी के प्रत्ययों में व्यापकता बहुत है। इसलिए जब हम शब्दों के अर्थ ढूंढ़ने लगते हैं, शब्दों के रूप ढूंढ़ने लगते हैं, तो उसमें आपको हिन्दी में उतने शब्द नहीं मिलेंगे जितने आपको अँग्रेजी में मिल जाएँगे। आप "Shall" के ऊपर, "be" के ऊपर अंग्रेजी के बहुत से शब्द जोड़ सकते हैं, लेकिन हिन्दी में आप ढूंढ़ने लगेंगे इस प्रकार के तो आपको नहीं मिलेंगे। यदि आप एक शब्द "मात्र" के प्रयोग ढूंढ़ें तो उसके आप 'एकमात्र' 'लेशमात्र', 'दोमात्र', 'छःमात्र' इत्यादि चार-छः शब्द इकट्ठे कर लेंगे, इससे अधिक आपको नहीं मिलेंगे। हिन्दी की दूसरी शक्ति उसके शब्दों को दुहराकर अर्थ व्यक्त करने की है; जैसे "हँसते-हँसते उसका पेट फूल गया।" इसका अर्थ यह हुआ कि बहुत हँसे, लेकिन इसके विपरीत भी वह शक्ति है जब बिल्कुल कार्य नहीं हुआ, जैसे "वह गिरते-गिरते बच गया"—इसमें बिल्कुल नहीं गिरा। अँग्रेजी में जब हम दो कालों को भूतकाल में व्यक्त करते हैं, कहना चाहते हैं और एक बात को पहले और दूसरी को बाद में तो भूत-कृदन्त (Past-Participle) का प्रयोग करते हैं। हिन्दी में उसके लिए यही विधि काम आ जाती है। कहते हैं कि "मेरे

पहुँचते-पहुँचते गाड़ी छूट गई" बल्कि एक बात और अधिक हो जाती है वह यह कि पहुँचने का और गाड़ी के छूटने का जो समय है वह बहुत कम था; यही इसमें व्यक्त हो जाता है। इन बातों का हमें स्मरण रखना चाहिए।

इसके बाद एकरूपता व्यक्त करना चाहें तो भी इस तरह के दुहरे शब्दों वाले वाक्यों का प्रयोग कर लेंगे जैसे—'स्त्रियाँ-स्त्रियाँ घर बैठें', 'छात्राएँ-छात्राएँ घर जाएँ।' कहीं-कहीं हम लोग इसी प्रयोग के लिए भिन्नता का भी प्रयोग करेंगे कि बगीचे में रंग-रंग के फूल खिले हुए थे। इसी दुहरे प्रयोग में शब्दों को दुहराकर उनके बीच में 'से' या 'न' के प्रयोग से विशेष अर्थ लिए जाते हैं, जैसे 'क्या से क्या,' 'कुछ से कुछ' 'किसी न किसी' आदि। अँग्रेजी के प्रभाव से ये सारी चीजें कम हो रही हैं। ये जो हिन्दी के प्रयोग हैं उनकी रक्षा करनी चाहिए। हमें जानना चाहिए कि कितने अर्थों में उसकी अर्थ व्यक्त करने की क्षमता है।

अर्थ व्यक्त करने की जो तरकीबें हैं और शब्द रचनाएँ हैं उनमें थोड़े-से शब्दों के बाद फिर रूपकों का प्रयोग होने लगता है और ये जो रूपक धीरे से आ जाते हैं। हम लोगों को इस बात की रक्षा के लिए, जिससे कि हमारी भाषा की शक्ति भी रहे और विदेशीपन भी न आए, इन रूपकों को देखने की आवश्यकता होगी। हमारे यहाँ की जलवायु ऐसी है कि यहाँ स्वागत को गर्म (Warm Welcome) नहीं कहते। यहाँ आनन्द का अर्थ 'शीतल' से लिया जाता है। इसी तरह प्राचीन काल में सम्भवतः स्वर्ण युग भी कोई अच्छी चीज नहीं मानी जाती थी। लोग कहते थे कि स्वर्ण में कलयुग का निवास है, इसलिए जो सबसे अच्छा समय होता था उसको सतयुग कहते थे। इस देश में सम्भवतः आवागमन कठिन था, इसलिए "एक पंथ दो काज" कहा जाता था। जहाँ पर कि इस तरह की परिस्थितियों की समस्या नहीं थी और कुछ दूसरी कठिनाइयाँ थीं वहाँ Killing two birds with one stone कहा जाता था। जहाँ पर कि कलात्मक अभिरुचि अधिक थी वहाँ 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' कहा जाता था। जो देश उद्योग वाला था, वहाँ उसी बात को व्यक्त करने के लिए कहा जाता था' 'a bad workman quarrels with his tools'। इन बातों के साथ-साथ हम लोगों को मुहावरों की रक्षा करने के लिए भी कुछ करने की आवश्यकता है। हम लोगों ने पिछले कुछ समय में ऐसे रूप इकट्ठे किए थे जो हिन्दी की वाक्य रचना को अपनी संस्कृति, साहित्य और देश, इन सबको देखते हुए, प्रभावित कर सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें अपनी भाषा के वाक्य रचना सम्बन्धी तत्त्वों को सुरक्षित रखना चाहिए।

'आरिगपूडि'

'साहित्य' बहुत व्यापक शब्द है। इसकी कई परिभाषाएँ हैं और कई तरह की हैं। शायद यही कारण है कि इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। पर स्पष्ट है कि इसके शाब्दिक अर्थ में इसकी सारी महत्ता नहीं आ जाती।

किन्तु इसकी व्यापकता में भी एक केन्द्र स्थल है, जिसको सृजनात्मक साहित्य कहा जा सकता है। यह साहित्य का निधि-रूप नहीं है, यह इसका स्रोत-रूप है। यह ही इसका हृदय है।

साहित्य किसी भी राष्ट्र के बौद्धिक विकास का व्यक्त रूप है, यह वह संचय-पात्र है, जिसमें समय अपनी स्मृतियाँ छोड़ता है। यह एक ओर परम्परा का आधार है, तो दूसरी ओर आगामी प्रगति का आधार।

यह एक विशाल झील की तरह है, जिसमें कई नद-नदियाँ आकर मिलती हैं, और जिससे कई और सर-सरिताएँ निकलती हैं, यही नहीं इसके अपने आन्तरिक स्रोत भी हैं।

परिभाषा कुछ भी हो, व्याख्या कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि साहित्य का सम्बन्ध भाषा और समाज से है। स्थल और समय से तो है ही। भाषा साहित्य की वाहक है, तो समाज बाह्य वस्तु है। यह मानव सभ्यता और संस्कृति का लिखित सौध है।

साहित्य का किसी भी विषय से सम्बन्ध हो, पर आधारतः वह व्यक्त भाषा में ही होता है। विषय-विषय के साथ भाषा आवश्यकतानुसार बदलती है, पर साहित्य में मूलतः भाषा की भी अपनी धारा है, और यह धारा काल और स्थल से प्रभावित होती है, और साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है।

यदि प्रश्न यह होता कि यह प्रभाव वांछनीय है कि नहीं, तो वक्तव्य और कथ्य कुछ और होता, पर सत्य यह है कि प्रभाव पड़ता है। यदि भाषा में साहित्य है, तो भाषा का भी साहित्य है।

किसी भी भाषा के निर्माण का यदि विश्लेषण किया जाए तो उसमें ऐसे बहुत से शब्द होंगे, जो कभी उसके अपने नहीं थे, दूसरी भाषाओं से लिये गये हैं या खपा लिये गये हैं। वे कहीं परिवर्तित हो गये हैं, तो कहीं अपने मूल रूप में ही विद्यमान हैं। और कई शब्द, अन्य भाषाओं के शब्दों के समावेश से स्वतः बन जाते हैं।

साहित्य किसी भी भाषा की प्रगति का, सम्पन्नता का द्योतक है। भाषा निसन्देह बढ़ती है, कैसे ? संस्कृत हिन्दी की जननी है, पर उर्दू नहीं, न अंग्रेजी ही। अन्य पड़ोसी भाषा भी नहीं, पर हिन्दी में सभी भाषाओं के शब्द हैं, और होने भी चाहिए। भाषा जब बनी होगी, तो इसका शब्द भंडार इतना नहीं रहा होगा। बाह्य प्रभाव के कारण इसकी श्रीवृद्धि हुई है।

यानी भाषा की नदी में और भाषाओं की बूँदें मिलती रहती हैं। यदि हिन्दी में कुछ शब्द और भाषाओं से आये हैं, तो अन्य भाषाओं में भी हिन्दी से कुछ शब्द गये हैं, फिर हर भाषा के अपने स्रोत भी हैं।

भाषा समाज की है, और समाज बदलता है, बदलते समाज के साथ, भाषा पर भी नये-नये प्रभाव आते हैं, यह अपरिहार्य है, वाँछनीय भी।

एक जमाना था जब यहाँ मुसलमानों का बोलबाला था, देशीय भाषाओं में कितने ही उर्दू और फारसी शब्द आये। हिन्दी भी यत्र-तत्र उर्दू बहुल हो गई। भौगोलिक और सामाजिक दृष्टि से यह बाह्य प्रभाव ही था।

बाद में अँग्रेज़ आये। अँग्रेज़ी भारत की भाषा नहीं है, और इस प्रसंग में यह "बाह्य" प्रभाव ही है। फलतः हिन्दी में कितने ही अँग्रेज़ी शब्द आ गये हैं। प्राचीन इतिहास में, आर्यभाषाओं और द्रविड़ भाषाओं का क्या परस्पर प्रभाव रहा, मैं इस समय उस बारे में कुछ नहीं कहना चाहता।

अब न अँग्रेजों का राज्य है, अँग्रेजी का दबदबा अवश्य है, न उर्दू का ही बोलबाला; उस हद तक शायद उनका प्रभाव भी सीमित हो गया है। परिणामतः सम्भव है कि हिन्दी के अपने अतिरिक्त स्रोत ही फूट पड़े हों। यही कारण है कि संस्कृतोद्भूत नये-नये शब्द बन रहे हैं।

भाषा समाज की होती है, और समाज अपने आप में कोई अलग ही नहीं है, वह कई और समाजों से सम्बद्ध है, कई और देशों से सम्पृक्त है, भिन्न-भिन्न भाषा-क्षेत्रों से परिवेष्टित है। उनमें सर्वदा प्रकट, अप्रकट, व्यावहारिक और साँस्कृतिक आदान-प्रदान चलता रहता है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, संप्रेषण का साधन है। दो समाजों के मिलने पर दो भाषाओं पर पारस्परिक प्रभाव का होना स्वाभाविक है।

मूलतः जननी भाषाएँ पाँच-छः ही होंगी, परन्तु आज संसार में सैकड़ों भाषाएँ हैं, हजारों सामाजिक एकांश हैं। ये भाषाएँ कैसे बनीं? और कैसे बदलती गईं, और बदलती जा रही हैं? वे अपने-अपने प्रचलन में, नये-नये प्रभाव जमा करती जाती हैं। उनका कलेवर बढ़ता जाता है, उनकी उपयोगिता बढ़ती जाती है।

समाज की आवश्यकताएँ, निश्चित व सीमित नहीं हैं, न ही उसके मूल्य व मानदण्ड ही। कभी दार्शनिक चिन्तन के लिए नए शब्दों की आवश्यकता थी, तो आज वैज्ञानिक पदावली की आवश्यकता है। कभी धार्मिक मूल्य प्रचलित थे, आज शायद आर्थिक मूल्य प्रचलित हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शब्द कैसे बनें? कभी भाषा के निजी आन्तरिक स्रोतों का आश्रय लिया गया तो कभी अन्य भाषाओं से शब्द उधार लिये गये। दोनों में ही बाह्य प्रभाव लक्षित हैं। पहले में परोक्ष रूप से और दूसरे में प्रत्यक्ष रूप से।

भाषा और विचार न कभी स्थिर रहे हैं, न रहेंगे। वे मानव के बौद्धिक विकास में पंच भूतों की तरह हैं। वे वायु और जल की तरह किसी न किसी रूप में सदा प्रवहमान हैं। जब वे प्रवहमान हैं, या तो वे स्वयं किसी और पर "बाह्य प्रभाव" हैं अथवा किसी और के प्रभाव के वे पात्र हैं।

भूमि की सतह, जो भाषा के प्रसंग में समाज है, नदी के प्रवाह की दिशा निर्णीत कर सकती है, पर उसके अन्य नदियों से सम्मिलन और संगम को नियंत्रित नहीं कर सकती। शायद यहीं परिप्रेक्ष्य का प्रश्न उठता है।

इस सम्बन्ध में एक और चिन्तनीय पार्श्व है। मनुष्य में जहाँ अनुकरण की प्रवृत्ति है, वहाँ अपनी पृथक स्वतन्त्र अस्तित्व की सूचना देने की भी उत्कंठा

होती है। अनुकरण किया जाता है, पर अनुकरण में कुछ-कुछ अपनापन भी जोड़ दिया जाता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में, थोड़े-बहुत भेद के साथ समानार्थी शब्द पाये जाते हैं। सारा शास्त्र भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रच्छन्न समानार्थी व समोच्चरित शब्दों पर आधारित है।

जातियाँ असंख्य हैं, देश अनेक हैं, पर सभ्यताएँ इनी-गिनी हैं। भौगोलिक कारण इतिहास की गतिविधि को कुछ हद तक ही प्रभावित कर पाते हैं। हर क्षेत्र की अपनी-अपनी विशेषताएँ हो सकती हैं, पर वे यदि किसी बृहत क्षेत्र से जुड़े हुये हों जैसा कि अक्सर होता है, वे बृहत क्षेत्र के प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते। यह जोड़ भौगोलिक ही नहीं, ऐतिहासिक और राजनैतिक भी हो सकता है। आपस में मेल जोल होता है, एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

कई क्षेत्र, अपना अलग अस्तित्व रखते हुए भी, कालक्रम से बड़े क्षेत्रों में मिल जाते हैं, बड़ी सभ्यता में खप जाते हैं। इस प्रकार के मिलने-मिलाने से एक सभ्यता विस्तार में ही केवल बड़ी नहीं होती पर उसके आन्तरिक निर्माण में भी कई परिवर्तन होते हैं। पारस्परिक प्रभाव का यह भी एक परिणाम है।

सारा हिन्दी क्षेत्र, राजस्थान से लेकर बिहार तक, हिमाचल प्रदेश से मध्य प्रदेश तक, फैला हुआ है, पर इसके क्षेत्र में कितनी ही और छोटी-छोटी भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के पारस्परिक प्रभाव से हिन्दी का रूप बढ़ा और निखरा, ये भाषाएँ अब भी हैं। और हिन्दी का क्षेत्र ज्यों-ज्यों बढ़ता जाएगा, तो इनका प्रचलन भी शायद सीमित और संकुचित होता जाएगा। यह प्रक्रिया, राजनैतिक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गतिविधि से अप्रभावित भी नहीं रहेगी।

भाषाएँ भिन्न हो सकती हैं, प्रान्त और देश भिन्न हो सकते हैं, पर कहावतें, मुहावरे करीब-करीब एक से ही हैं, सभी भाषाओं में। क्यों? बहु-प्रचलन, और बहुत समय के बाद, वे एक-से प्रतीत होते हैं, पर एक समय रहा होगा, जब इनमें से बहुत से बाह्य प्रभाव के रूप में किसी भाषा में समा गये होंगे, या खपा लिये गये होंगे, और ये कहावतें और मुहावरे एक भाषा के लिए सरगम से हैं—सामान्य साहित्यिक अभिव्यक्ति के स्वीकृत अंग हैं।

जब एक समाज, दूसरे समाज के सम्पर्क में आता है, जो कोई उस समय प्रचलित मूल्यों के अनुसार प्रबल होता है, दूसरे पर प्रभाव करता है। तथा-कथित "निर्बल" में एक साथ प्रदर्शन और अनुकरण की इच्छा प्रबल हो उठती है, यद्यपि दोनों ही प्रदर्शन, मौलिक चिन्तन और अभिव्यक्ति के प्रतिबन्धक हैं।

भारतीय भाषाओं के गद्य पर अँग्रेज़ी गद्य का कुछ इस प्रकार का प्रभाव है। कई तो वाक्य-रचना इस तरह करते हैं, जैसे अँग्रेजी के ढाँचे पर स्वभाषीय शब्द चिपका रहे हों। यह अभिव्यक्ति की विचित्र पद्धति है, पर इस समय अत्यन्त प्रचलित है। मैं स्वयं शायद पहला दोषी हूँ। यह कुछ हो या न हो, अभिव्यक्ति पर बाह्य प्रभाव अवश्य है। यह भारतीय परिप्रेक्ष्य में कहाँ तक उचित अथवा अनुचित है, यह देखना होगा।

अंग्रेजी का प्रभाव, जहाँ तक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है,सम्प्रति एक और रूप में भी व्यक्त हो रहा है। आजकल जितने भी पारिभाषिक शब्द या नये शब्द बनाये जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश, अंग्रेजी शब्दों और अभिव्यक्ति के आधार पर ही बनाये जा रहे हैं। यद्यपि शब्द भारतीय हैं, पर इनका रचना विधान अंग्रेजी है। यह शायद इसलिए हो रहा है, चूंकि प्रायः ये अंग्रेजीदां विद्वानों द्वारा ही बनाये जा रहे हैं। कुछ अंश तक यह अनिवार्य है, चूंकि अपेक्षित पदावली वैज्ञानिक है और आवश्यकताएं संक्रांतिकाल की हैं। पर इनमें से कई शब्द अनावश्यक हैं। क्योंकि उसी अर्थ में कई अभिव्यक्तियाँ उस समाज में प्रचलित हैं, जहाँ अंग्रेजी ने प्रवेश नहीं किया है। क्या उन शब्दों को, भले ही प्रारम्भ में, वे उतने परिष्कृत न समझे जायें, साहित्यिक भाषा में खपा लेना वांछनीय नहीं है ?

जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में आते हैं, तो कुछ अभिव्यक्ति के साथ आते हैं। एक ही शब्द, एक साथ कई भाषाओं की सम्पत्ति बन सकता है। अभिव्यक्तियों के स्वरूप की भी यही बात है। किसी भाषा के द्वार बन्द नहीं रखे जाते। भाषा की सीमाएँ और सांचे निर्धारित नहीं किये जा सकते। भाषा की नैतिकता, अगर कोई है, राजनीतिक, धार्मिक हठधर्मी द्वारा नियन्त्रित नहीं होती, यह अच्छा ही है।

अभिव्यक्ति विचार और कार्य की होती है। कोई भी समाज हो, देश हो, मोटे तौर पर विचार और कार्य, एक ही तरह के होते हैं। मानव की आधारभूत अनुभूतियाँ, साहित्य का जिनसे सीधा सम्बन्ध है, सर्वत्र समान-सी हैं। अतः अभिव्यक्तियों में, यदि एक प्रकार की समानता दृष्टिगोचर होती है, तो हमेशा यह नहीं होना चाहिये कि उन पर बाह्य प्रभाव है, वे स्वतन्त्र रूप से भी आविष्कृत हो सकती हैं।

विधाएं साहित्य की होती हैं, और शैली लेखक की। लेखक का व्यक्तित्व

शैली में ही व्यक्त होता है । प्रस्तुतीकरण ही लेखक को प्रायः अपनी विशेषता देता है ।

मनुष्य की भावनाएं, अनुभूतियाँ, विचार, जो साहित्य में उपयुक्त होते हैं, एक-से रहे हैं, और एक से हैं । मेरा संकेत आधुनिक वैज्ञानिक और ओद्योगिक साहित्य की ओर नहीं है, स्वतन्त्र सृजनात्मक साहित्य की ओर है । शैली ही साहित्य में वैविध्य लाती है । करीब-करीब एक ही सामग्री, भिन्न-भिन्न रूप से व्यवस्थित और संचित होकर साहित्य के आयाम बढ़ाती है ।

व्यक्ति के साथ शैली बदलती है, उसकी शिक्षा, पृष्ठभूमि, प्रतिभा, पाण्डित्य बौद्धिक सज्जा के साथ बदलती है । शैली एक प्रकट चिन्तन प्रक्रिया है । चिन्तन पर यदि बाह्य प्रभाव होता है, और होता ही है तो शैली पर भी शायद होता है, पर यह बाह्य प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं होता, यह खाद की तरह होता है जिसका प्रभाव पौधे पर है पर वह सहज दृश्य नहीं होता । शिक्षा और अध्ययन का प्रभाव भी कुछ ऐसा ही है ।

शैली व्यक्ति की अवश्य है, पर हर व्यक्ति में समान प्रतिभा व मौलिकता नहीं होती । लेखक बनने की अभिलाषा भी बौद्धिक सामर्थ्य के अनुपात में नहीं पाई जाती । उस हालत में अधिक प्रतिभाशाली लेखक की शैली का अनुकरण होता है, और वह एक प्रवृत्ति के रूप में प्रवाहित हो उठता है । तब कुछ समय तक शैली साहित्य की भी हो जाती है ।

एक समय था जब शैली में पाण्डित्य प्रदर्शन होता था, और वह प्रशंसित भी होता था । बड़े-बड़े शब्दों से शैली की चिनाई होती थी, उसको अलंकारबद्ध किया जाता था, फलतः कभी-कभी अर्थ की भी उपेक्षा होती थी । बल भाषा के सौन्दर्य पर होता था । हो सकता है कि यह उत्तर-कालीन संस्कृत का प्रभाव रहा हो ।

उन दिनों साहित्य की अपनी विशेष भाषा-सी थी, और कुछ हद तक अब भी है, जो रोज़मर्रे की भाषा से, व्यावहारिक भाषा से कुछ भिन्न थी । अब उन दोनों का अन्तर कम हो रहा है, जोर अर्थ पर है, सम्प्रेषण पर है । ऐसा क्यों हुआ, क्यों हो रहा है ?

एक तो समाज और समय की आवश्यकताएँ बदल गई हैं । इस यान्त्रिक युग में पदावली के सौन्दर्य का आस्वादन उतना प्रचलित मनोरंजन नहीं है । कम समय में पाठक अधिक से अधिक पाने का प्रयत्न करता है । बल सामग्री पर है । कम शब्दों में वह अधिक से अधिक जानकारी पाना चाहता है ।

यही नहीं 'कथित शब्द' के माध्यम भी बहुत विकसित हो गये हैं, जैसे फिल्म और रेडियो इत्यादि। इनका भी साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। पर क्या यह बाह्य प्रभाव है? क्या साहित्य की विस्तृत परिभाषा में ये माध्यम, ये अंग नहीं आ जाते?

यह निरूपण भारतीय भाषाओं और साहित्य तक ही केवल सीमित नहीं है, संसार की सभी भाषाओं में यह हो रहा है, और होना ही चाहिए।

शिक्षा की भी बात है, जो आजकल साहित्य का निर्माण कर रहे हैं, वे प्रायः विश्वविद्यालयों की ही उपज हैं, जिनमें अधिक ध्यान दुर्भाग्य से, या सौभाग्य से भारतीय भाषाओं पर उतना कदाचित नहीं होता, जिनता कि अँग्रेजी पर होता है। शिक्षा का सम्बन्ध यदि व्यक्ति से है, और व्यक्तित्व का शैली से तो शैली भी बाह्य कारणों से प्रभावित होती है।

जब प्रायः सारा अध्ययन अँग्रेजी में हो रहा है, तो साहित्य को, या साहित्य की शैली को, अँग्रेजी के प्रभाव से अप्रभावित रखना असम्भव है। पर आज यह कहना कि इस दृष्टि से साहित्य पर बाह्य प्रभाव आवश्यकता से अधिक है, अनुचित और अशुद्ध न होगा। इससे अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है, और एक प्रकार की हीन भावना प्रबल होती है, जो न साहित्य के लिए उपयोगी है, न व्यक्ति के लिए ही। और ऐसी परिस्थितियों में घटिया साहित्य के बनने की भी अधिक आशंकाएँ हैं। सृजनात्मक साहित्य में कथ्य उतना ही मुख्य है, जितनी कि कथन-शैली।

वह शैली भी क्या है, जो आत्मविकसित स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं हो। शैली सम्प्रेषणीयता द्वारा निश्चित और नियन्त्रित है, पर वह लेखक के लिए आत्म-अभिव्यक्ति का भी माध्यम है। शैली ही लेखक को अपना पृथक धरातल देती है। इस पर बाह्य प्रभाव अनिवार्य है, पर लेखक के सिरे पर इनका व्यक्त शैली में, परिपालित होना भी अनिवार्य है, अन्यथा शैली अनुकरण मात्र रह जाती है।

आवश्यकता बाह्य प्रभावों को हटाने की, या रोकने की नहीं है, पर उनको साहित्य में आत्मसात करने की है। ये प्रभाव जलवायु की तरह हैं, जिनका विनाश असम्भव है, पर जिनसे रक्षण सम्भव है, और जिनकी अनुपस्थिति में साहित्य का सजीव रहना ही अचिन्तनीय है।

साहित्य पर बाह्य प्रभाव अपरिहार्य हैं, पर उनका नियन्त्रण भी आवश्यक है। और नियन्त्रण भारतीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार ही वांछनीय है।

भारत प्राचीन देश है, इसका साहित्य पुरातन और समृद्ध है। इसकी अपनी साहित्यिक परम्पराएँ हैं। अतः इसके लिए कोई ऐसी चीज स्वीकृत न होगी जो यह आत्मसात् नहीं कर सकती। पर कई ऐसी चीजें, या प्रभाव इस पर थोपे जा रहे हैं, जो कदाचित् इसके लिए आवश्यक नहीं हैं।

इसका कारण हमारी शिक्षा प्रणाली है। शिक्षा का माध्यम कई प्रान्तों में अब अंग्रेज़ी है। चिन्तन भी बुद्धिजीवियों में प्रायः अंग्रेज़ी में ही होता है। कहा जा रहा है कि यह प्रवृत्ति आजकल कम हो रही है और यह चिन्तन जब व्यक्त होता है, तो साहित्यक विधा, और शैली में भी अंग्रेजियत का असर आ जाता है। इससे हमारे पारम्परिक साहित्य की शोभा और समृद्धि बढ़ती हो, यह सन्देह का विषय है।

प्रायः होता यह है कि हमारे शिक्षित न अँग्रेज़ी का ही पूरा अधिकार पा पाते हैं, न अपनी भाषा का ही। न उनका अंग्रेज़ी साहित्य में ही पूरा प्रवेश होता है, न वे अपनी भाषाओं के साहित्य में ही पैठ पाते हैं। वे एक प्रकार के त्रिशंकु स्वर्ग में रह जाते हैं। उनकी प्रतिभा अक्सर अनुकरण तक ही सीमित रह जाती है। न वे अंग्रेज़ी को कुछ दे पाते हैं, न अपने देश की ही सेवा कर पाते हैं। यह शोचनीय है।

क्रमबद्ध साहित्य की प्रगति इसकी परम्पराओं के आधार पर होती है, अंग्रेजी के आने से पहिले; ऐसी परम्पराएँ अक्षुण्ण थीं, अब भी कई क्षेत्रों में ये हैं। पर अंग्रेज़ी के प्रभाव में ये परम्पराएँ हैं तो, पर उतनी प्रबल नहीं मालूम होतीं। कई ऐसी पद्धतियाँ, और विचार आ गये हैं जो भारतीय नहीं हैं। ये वस्तुएँ हमारी परम्परा का पोषण नहीं करतीं। पर क्या सदा परम्परा का पोषण होना चाहिए ? क्या प्रगति इन पर निर्भर है ?

कुछ हद तक है। परम्परा और प्रगति एक ही सूत्र के दो सिरे हैं। परम्परा भी परिवर्तनशील है, यह रूढ़ि से भिन्न है। यह दिशानिर्णायक है। यह नैरन्तर्य की धारा है। परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए प्रगति हुई है। वर्तमान वृद्धि और भूत की समृद्धि में, स्रोत और प्रवाह का सा सम्बन्ध रहा है। अँग्रेज़ी के प्रभाव में, वह सम्बन्ध, ऐसा लगता है, कहीं-कहीं टूट गया है।

ऐसी चीजें लिखी जाने लगी हैं, जिनका वे ही शायद आस्वादन कर सकते हैं, जो पाश्चात्य साहित्य से परिचित हैं। कई ऐसे साहित्यिक वाद आ गए हैं, जिनका भारतीय जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, कई ऐसी समस्याओं का

तर्जन-भर्जन हो रहा है, जिनका कि हमारे सामाजिक जीवन से कोई समन्वय नहीं है।

यही नहीं आलोचना के क्षेत्र में यह पश्चिम-मुखी प्रवृत्ति और भी अखरती है। साहित्य लिखा जाता है भारतीय भाषाओं में, पर उसकी आलोचना होती है पाश्चात्य मानदण्डों के अनुसार। परिणाम यह होता है कि सामयिक साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। फिर साहित्य भी ऐसा बन रहा है, और ऐसे लेखकों द्वारा बनाया जा रहा है, जिनका परिप्रेक्ष्य न पूर्णतः पाश्चात्य है, न पूर्वीय ही। आलोचना के इस रवैये से लेखक में हीन भावना उफनने लगती है। वह कभी-कभी निराश और निष्क्रिय हो उठता है। यह दृष्टिकोण वैयक्तिक स्तर पर साहित्य के निर्माण के लिए घातक है।

भारत में शिक्षितों की संख्या ही नगण्य है, ये शिक्षित भी दो भागों में छटे हुए हैं—एक वे जिनको अँग्रेजी शिक्षा मिलती है, और दूसरे वे जो भारतीय भाषाओं से ही परिचित हैं। इनकी संख्या ही अधिक है। परन्तु ऐसा मालूम होता है, जैसे अधिकांश साहित्य अँग्रेज़ी शिक्षितों के लिए ही बनाया जाता है। और ये अँग्रेजी से इस कदर प्रभावित हैं कि स्वदेशीय भाषाओं के प्रति, कहना होगा, वे स्वस्थ परिप्रेक्ष्य नहीं रखते। इस स्थिति में यदि उत्तम साहित्य बने भी तो कैसे बने ?

साहित्य में हित साधना की भावना ध्वनित है। वर्तमान साहित्य में हित की भावना, आधुनिक शिक्षा और वातावरण के कारण, मुझे भय है, बहुत सीमित हो गई है। हम अपने साहित्य में, अपने समाज का चित्र उस परिमाण में, और परिप्रेक्ष्य में नहीं दे पा रहे हैं, जितना कि और जैसे कि अपेक्षित है। हमें इसके आकर्षण, आस्वादन और प्रचलन की परिधि बढ़ानी होगी। हमें उन्हीं विषयों को चुनना होगा, जिनका हमारे जन-जीवन से सम्बन्ध है, जिनकी हम लोगों के लिए उपयोगिता है। वर्तमान साहित्य, शायद हमारे जीवन का न प्रतिबिम्ब है, न पथ प्रदर्शक ही। ऐसा करने से साहित्य की परम्पराएं बनी रहेंगी और साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति भी होगी।

मुझे डर है, कि अँग्रेजी के प्रभाव के कारण, आंचलिक उपन्यास और साहित्य के बावजूद, हमारा साहित्य भारतीयता से दूर जा रहा है। कहीं यह अँग्रेजी साहित्य की गन्दी नकल मात्र न रह जाये। बाह्य प्रभाव आवश्यक है, अनिवार्य है, इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी आत्मीयता ही खो बैठें।

एक पौधे के लिए बाह्य वायु जल सब आवश्यक है, पर यह इतना अरक्षित भी नहीं रखा जाना चाहिए कि बाह्य प्रभावों के तूफानों का शिकार हो जाये और अपनी सत्ता ही खो बैठे। उतना ही जल और वायु हम इसे दें जितना कि इसके स्वास्थ्य और जीवन के लिए आवश्यक है। अभी तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे हम इसे आँधी-पानी में धकेल रहे हों। तूफान इसे चाहिए, पर अपनी शक्ति परखने के लिए ही।

अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। वातावरण बदल रहा है, भारत के सांस्कृतिक जीवन का पुनरुत्थान हो रहा है। नया साहित्य बन रहा है। पर मैं यह चाहता हूँ कि यह साहित्य काल की आवश्यकताओं का ख्याल करते हुए, परम्परा की रक्षा करते हुए, भारतीय परिप्रेक्ष्य को नजर में रखते हुए बने।

जब परिप्रेक्ष्य गलत होगा, साहित्य का चित्र ही गलत होगा। परिप्रेक्ष्य ठीक हो, तो शैली और अभिव्यक्ति प्रायः अपने आप ठीक हो जाते हैं। इसकी अत्यन्त महत्ता है। हमें अपना सृजनात्मक ध्यान इस पर केन्द्रित करना होगा।

बाह्य प्रभाव आवश्यक है, पर इनको अस्वाभाविक रूप से बटोरना अदूरदृष्टि है, मूर्खता है। मुझे भाषा का विदेशी भाषाओं से प्रभावित हो जाना स्वीकृत है, शैली के प्रभावित हो जाने पर मुझे आपत्ति नहीं है। पर परिप्रेक्ष्य का अभारतीय हो जाना मुझे असह्य है।

★

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

आपने जब यह विषय निर्धारित किया "साहित्य पर बाह्य प्रभाव" तो मैं सोचता हूँ कि आपने बहुत से लोगों को ध्यान में रखकर ऐसा विषय चुना, जिस पर कुछ भी कहा जा सकता है और यदि आवश्यकता पड़े तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सचमुच ऐसी गोष्ठियों में, जो सार्वजनिक प्रकार की हैं, विषय की व्यापकता वक्ताओं के लिए उपादेय होती है, क्योंकि वे किसी एक पक्ष को लेकर या समग्र रूप से या उससे मिलते-जुलते किसी पक्ष पर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

जब बाह्य प्रभाव की बात आपकी गोष्ठी का विषय है तो मैं सोचता हूँ कि उसमें रचना-प्रक्रिया आदि तत्त्वों को मिलाना—विषय को गूढ़ और शायद जटिल बना देना है, क्योंकि इसका आशय जो मेरी समझ में आया है इतना ही है कि इस देश के साहित्य में विदेशी तत्त्वों का समावेश किस मात्रा में किस परिमाण में, किस प्रकार से उचित है और, कहाँ तक अनौचित्य की सीमा तक पहुँचता है।

साहित्य स्वयं एक गतिशील वस्तु है। उसकी कोई एक रूपरेखा या अंतिम स्वरूप निर्धारित नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि संस्कृत साहित्य ही हमारी संस्कृति का एकमात्र प्रतिनिधि साहित्य है। निरन्तर विकासमान होने के कारण साहित्य पर अनेक प्रकार के प्रभावों का पड़ना और अनेक प्रकार की परिस्थितियों से उसका स्वरूप बदलना आवश्यक और अनिवार्य है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि नयापन ही बाह्य प्रभाव है। नयापन बाह्य प्रभाव

नहीं हैं, इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है। कई दार्शनिकों ने यह विचार किया है कि साहित्य एक निश्चित गति से ही आगे बढ़ता है और उस निश्चित गति से किसी एक देश में नहीं वल्कि समस्त संसार में वह बदलता रहता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के द्वारा मोटे तौर पर कम-से-कम यह निर्धारित किया गया है कि साहित्य की गति किस प्रकार परिवर्तित होती है, उसका स्वरूप कैसे बदलता है। यदि हम पूरे तौर पर मार्क्सवादी सिद्धान्त को न भी मानें, पर इतना तो निश्चित है कि हमारे साहित्य में परिवर्तन की गति अपार है और उसका स्वरूप, उसके परिवर्तन का स्वरूप भी, किसी न किसी रूप में सुनिर्धारित है। प्राचीन साहित्य का एक युग था, उसकी अपनी परिस्थितियाँ थीं, उसके अपने मानदंड थे। इसके पश्चात् स्वच्छन्दतावादी साहित्य सारे संसार के देशों में आया, किसी न किसी मात्रा में और हिन्दी साहित्य में भी वह आया। जब वह हिन्दी साहित्य में आया तो लोगों ने यह कहना आरम्भ किया कि यह साहित्य विदेशी प्रभाव से अंकित है और सबसे बड़ा इलजाम जो इस पर लगाया गया वह यही था कि यह स्वदेशी साहित्य से भिन्न प्रकृति का है।

साहित्य में नवीनता आती है, इस तथ्य से यदि हम परिचित हैं तो शायद हम और भी संतुलित रूप से सोच सकेंगे कि साहित्य की स्वाभाविक गति क्या है और प्रभाव को उस गति की तुलना में कितना स्थान दें या किस रूप में उसका अंकन करें, एक पृथक्करण की आवश्यकता पड़ेगी। मुझे यहाँ पर आपके समक्ष यह निवेदन करना है कि हमारे साहित्य में विदेशी प्रभाव अधिक मात्रा में नहीं हैं और यदि हैं तो वह क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और अंततः एक संतुलन स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि मैं कहूँ कि जो प्रभाव नई कविता या प्रयोगवादी कविता के आरम्भ में दिखाई पड़े थे वे प्रभाव बहुत क्षीण हुए हैं और नई कविता वाले अपने को प्रयोगवाद से पृथक् मानने का दुराग्रह करते हैं। इसमें कदाचित् यही तथ्य भ्रामक है कि वे ऐसा समझते हैं कि पूर्ववर्ती प्रयोगवादी कविता में शायद विदेशीपन अधिक था, इसलिए हिन्दी साहित्य में उसका प्रसार अथवा उसकी स्वीकृति उतनी मात्रा में नहीं हुई। इसलिए वे अपने को अलग धारा में या अलग पद्धति में लेने के लिए उतावले हो रहे हैं, आतुर हो रहे हैं। मेरे कहने का आशय यह है कि किसी भी नई धारा के आरम्भिक काल में शायद कुछ विदेशी प्रभाव अधिक रहा करते हैं, परन्तु कुछ ही समय बाद, कुछ ही वर्षों के बाद जब लोग अपने काव्य के निर्माण के, अपने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में, उसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में, अपनी

प्रेटाओं के सम्बन्ध में अधिक सजग रहते हैं तो फिर वे उस संतुलन पर आ जाते हैं कि जिसको हम विदेशी प्रभाव नहीं कह सकते। तो मेरे कहने का उद्देश्य यही है कि साहित्य एक गतिशील वस्तु होने के कारण प्रभाव का स्वरूप सर्वत्र नई वस्तुओं में ढूंढ़ना उचित नहीं है, बल्कि नयापन ही प्रत्येक विकास में प्रमुख होता है और नयापन विशुद्ध स्वदेशी वातावरण और परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। आज यह कहना कि "निराला" पर कीट्स का प्रभाव है या पंतजी पर वर्ड्सवर्थ का प्रभाव है, कोई अर्थ नहीं रखता। इन लोगों ने भले ही कीट्स को पढ़ा हो या शैली को पढ़ा हो, परन्तु इनके काव्य में भारतीय परिवेश, भारतीय जीवन की धाराएँ, भारतीय संस्कृति, सभी उपस्थित हैं जिनके कारण यह कहना सम्भव नहीं है कि हमारी रोमांटिक काव्यधारा—छायावादी काव्यधारा विदेशी रोमांटिसिज्म से प्रभावित है।

समानता का गुण और प्रभाव का गुण–दोनों का पृथक्करण जरूरी है और समानता के गुण के लिए वहां परिस्थितियाँ जो हैं वे नये-युग की सृष्टि करती हैं। हम मार्क्सवाद के सिद्धान्त के केपिटलिस्ट लिट्रेचर को न भी स्वीकार करें, इतना तो कह ही सकते हैं कि साहित्य के विकास की यह एक पद्धति है और वह पद्धति हमें सभी साहित्यों में दिखाई पड़ती है जिसको कि प्रभाव न कहकर विकास कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि कुछ विचारधाराएँ आज अंतर्राष्ट्रीय हो गई हैं जो किसी न किसी रूप में समस्त देशों में व्याप्त हैं। उदाहरण के लिए आज मार्क्सवादी विचारधारा या डेमोक्रैटिक सोसलिज्म की विचारधारा या दूसरी विचारधाराएँ किसी देश तक सीमित नहीं हैं वरन् सारे संसार की वस्तुएँ बन गई हैं। यदि इसका आधार लेकर हमारे लोग प्रभावित होते हैं और उनके इस दार्शनिक पक्ष या संस्कृति को लेकर रचना करते हैं तो उसको भी मैं बाह्य प्रभाव मानने के लिए तैयार नहीं हूँ, क्योंकि यह सारे संसार के राष्ट्रों ने, देशों ने, जनता ने और लोगों ने भी स्वीकार कर लिया है और उससे सुपरिचित हो गए हैं, आत्मसात् कर लिया है, इसलिए न केवल साहित्य में नित्य नवीनता रहती है, बल्कि प्रत्येक देश के साहित्य में ऐसी विचारधाराओं का भी प्रवेश हो रहा है, ऐसे सिद्धान्त भी आ रहे हैं, जो सार्वदेशिक कहे जा सकते हैं। इन सार्वदेशिक वस्तुओं पर किसी एक देश का अधिकार नहीं रहा। आज हम यह नहीं कह सकते कि समाजवादी विचारधारा या साम्यवादी विचारधारा इस देश के लिए बाह्य है, तो इस बात को भी हमें ध्यान में रखना होगा कि

हमारा देश कितनी चीजों को आत्मसात कर चुका है और उनको हम बाह्य प्रभाव की सीमा में अब नहीं ला सकते । हिन्दी में जब प्रगतिवादी आन्दोलन चला तो उसके कुछ सूत्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए । पहले निबंधात्मक रूप में ही, समीक्षा के रूप में ही, प्रगतिवादी साहित्य की सृष्टि हुई । विचार-पक्ष पहले आया था; उसके बाद रचना-पक्ष भी आया ।

लेकिन विचार-पक्ष पहले जितना कट्टर था, कहना चाहिये, विदेशी-प्रभाव से ग्रस्त था, उतना आज नहीं है । आज उसमें परिवर्तन हुआ है । हमारे सामने रामविलास जी बैठे हुए हैं, इन्होंने रामचन्द्र शुक्ल पर समीक्षा लिखी, 'निराला' पर अपनी पुस्तक लिखी । उसमें उन्होंने किसी एक मार्क्सवादी सिद्धान्त के कट्टरपन को छोड़कर उसका जो विशुद्ध जनतांत्रिक स्वरूप है, लोकोपयोगी स्वरूप है, उसी को आधार बनाकर कार्य किया है । यद्यपि उन्होंने 'निराला' के कुछ पक्षों को छोड़ भी दिया है जो उनके काम के नहीं हैं, यह सम्भव है, लेकिन जो कुछ उन्होंने लिखा है उसका सम्बन्ध किसी विदेशी विचारधारा से नहीं है और समीक्षक के रूप में उन्हें किसी विदेशी विचारधारा से प्रभावित मानना भी शायद उचित नहीं है । उनके मार्क्सवाद में मुझको कुछ कमियाँ नजर आती हैं । मार्क्सवाद के सम्बन्ध में लम्बी चर्चा तो मैं यहाँ नहीं करूँगा; लेकिन कहूँगा कि मार्क्सवाद साहित्य की सृष्टि के लिए बड़ा अच्छा साधन है क्योंकि इसमें एक तरह से साहित्यिकों को किसी विशेष मार्ग पर चलने के लिए एक दिशा दर्शन दे दिया है । हिन्दी के लेखकों ने स्वयं मार्क्सवादी लेखकों की समीक्षा करते हुए उनके अनैतिक या अमर्यादा सृजन की निन्दा नहीं की है । इस-लिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि भले ही वह विचारधारा कभी बाहर से आई हो, लेकिन यदि वह हमारे देश के अनुकूल बन गई, हमारे देश की सीमा में, हमारे देश के प्रतिमानों में, चाहे वे नैतिक प्रतिमान हों, या कोई दूसरे प्रतिमान हों, उनके अनुरूप बन गई है तो भी हम उसको बाह्य प्रभाव नहीं कह सकते । मार्क्सवाद में शायद धर्म के लिए गुंजाइश नहीं है, 'आध्यात्मिक चिन्तन' के लिए गुंजाइश नहीं है, लेकिन फिर भी हमारे मार्क्सवादी लेखक 'निराला' की और महादेवी वर्मा की प्रशंसा करते हैं । तो यह एक समन्वय है, एक प्रकार का धारावाहक आयतीकरण है । इस आयतीकरण के माध्यम से हम विदेशी वस्तुओं को भी अपने देश के अनुरूप बनाकर बरतते हैं और ऐसा बर्ताव या ऐसा व्यव-हार मेरी दृष्टि में विदेशी प्रभाव की सीमा में ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।

यह मैं मानता हूँ और शायद सच ही हो कि हमारे हिन्दी लेखक विदेशी प्रभाव को सीमा के बाहर ग्रहण कर रहे हैं।

हमारे कुछ लेखक और कवि अस्तित्ववाद की भूमिका पर कुछ लेखन कार्य किया करते हैं। मैं यह नहीं जानता कि अस्तित्ववाद यूरोप की वस्तु होने के सबब से इस देश के लिए एकदम ही परित्याज्य हो, लेकिन वे परिस्थितियां जो यूरोप में थीं और हैं, जिनमें दो महायुद्धों के बाद एक भीषण प्रकार की विश्रृंखलता समाज और जीवन में आई थी और सामाजिक व्यवस्थाएँ टूट गई थीं, उन स्थितियों में आस्तित्ववाद का आरम्भ यूरोप और अमरीका में आंशिक रूप में हुआ। वहाँ पर यही विचारधाराएँ एकमात्र नहीं थी अनेक अन्य विचारधाराएँ भी थीं। उस अस्तित्ववाद के स्वरूप को हम अपने देश में लाकर बरतना चाहते हैं, यह कहाँ तक स्वदेशी वस्तु है यह सोचने की चीज है। हमारा देश अभी-अभी स्वतन्त्र हुआ है, १७ वर्ष बीते हैं और हमारे देश में वे सारे अनुभव, वे सारी विसंगतियाँ जो कि यूरोप में उत्पन्न हो गई थीं, अभी नहीं हैं और न होने की सम्भावना है। तो ऐसी स्थिति में यह एक ऐसे जीवन-दर्शन को जो बाहर का है और जिसकी हमारे देश की सीमा में विशेष अहमियत नहीं है, स्वाभाविकता नहीं है, यदि अपनाते हैं तो इसे हम ज़रूर विदेशी प्रभाव कहेंगे और अवांछनीय प्रभाव कहेंगे। इस तरह विदेशी प्रभाव के सम्बन्ध में, दार्शनिक भूमिका पर और समाजशास्त्रीय भूमिका पर, मेरे कतिपय ऐसे विचार हैं कि हम भले ही किसी दर्शन को अपनाएँ, किसी सामाजिक चिन्तन को अपनाएँ, लेकिन उसे हम अपने देश की जलवायु में अपने देश की सीमा में रखकर और उसका नवीनीकरण करके उसका स्वाभाविक स्वरूप निर्मित करें, यह आवश्यक है। यह आवश्यक ही नहीं ऐसा होने पर अपने साहित्य को स्वाभाविक गति से बढ़ता हुआ साहित्य सिद्ध कर सकेंगे।

जैसा कि मैंने कहा, मार्क्सवादी चिन्तन में मूलतः ऐसे तत्व नहीं हैं जिनको हमारे हिन्दी के समीक्षक काम में ला रहे हों, या हों तो कम से कम उनको मैंने नहीं देखा है। क्योंकि जब एक भौतिकवादी जीवन-दर्शन के आधार पर कोई चिन्तन-धारा का कार्य होता है, निर्माण होता है, तो उसमें बहुत से तत्त्व छूट जाते हैं। एक मानवतावाद का तत्त्व भी है। हम गाँधीजी की प्रेरणा का, गाँधीजी की अहिंसा का भी अपने साहित्य में महत्त्व मानते हैं और वह हमारी भारतीय परम्परा के अनुरूप भी है। यद्यपि गाँधीजी ने कहा था कि हमारी अहिंसा दूसरों की हिंसा से बलवती है। वह बलवती है तो उस अहिंसा का यदि

हमारे साहित्य में प्रवेश है और मानवतावादी भूमिका पर कुछ चीजें तैयार कर सकें तो उनका भी मूल्यांकन होना चाहिए । ख्वाह-म-ख्वाह लोग प्रेमचन्दजी को यथार्थवादी कलाकार घोषित करते हैं । वे ऐसा समझते हैं कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो शायद प्रगतिशीलता में धब्बा लग जायगा । प्रगतिशीलता में धब्बा नहीं लगेगा, बशर्ते कि हम इस बात को समझते रहें कि युग विशेष में किसी कलाकार ने किसी तरफ ज्यादा दृष्टि डाली है और उसने जो कुछ निर्माण किया है उसका उस युग में किस प्रकार का प्रभाव समन्वित था और पड़ा। प्रेमचन्द के साहित्य पर यदि हम मार्क्सवादी प्रभाव ढूंढ़ने लगें तो उसमें कई बार भ्रान्तियाँ हो सकती हैं । यहाँ तक मैं देखता हूँ कि प्रेमचन्द ने समाज के आधार का वास्तविक चित्रण किया था, लेकिन उसके साथ ही साथ उन्होंने कुछ आदर्श भी रखे हैं । उन आदर्शों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो वे आदर्श पूर्ण रूप में भारतीय और मानवतावादी आदर्श दिखाई देते हैं । गाँधी जी का भी उन पर प्रभाव पड़ा था । कम से कम यह सोचना चाहिए कि वह एक युग था कि गाँधीजी ने इस सारे देश को एक शक्ति का केन्द्र बनाकर विदेशी साम्राज्य से लोहा लिया था और उसके परिणामस्वरूप, निष्कर्ष स्वरूप स्वराज्य भी हमको मिला ।

इस अतिवाद से बचने की वजह से हमारे साहित्य की प्रगति है, यह संतोषजनक है, मुझ को लगता है कि विदेशी प्रभाव फलस्वरूप कुछ नए लेखक ऐसा कर रहे हैं जो कि उन्हें नहीं करना चाहिए । जैसे कि कुंठा की प्रवृत्तियों को लाकर साहित्य में थोपने की क्या आवश्यकता थी। हमारे ऐसी चीजें लोकप्रिय नहीं हो पातीं । वे लोग कहते हैं कि हम लोक-प्रियता नहीं चाहते । हम तो आत्मा की अभिव्यक्ति चाहते हैं । आत्मा की अभिव्यक्ति यदि आप चाहते हैं तो आप अपनी पुस्तकों को प्रकाशित क्यों करते हैं, दूसरों के पास क्यों ले जाते हैं; उनसे विचार-विनिमय क्यों करते हैं, अपनी पुस्तक पर अच्छी-अच्छी टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ क्यों निकलवाते हैं। तो इस तरह से मैं सोचता हूँ एक संतुलन हमारे साहित्य में आ रहा है । लेकिन उस संतुलन के पूर्व कुछ अतिवाद भी आए हैं और इन अतिवादों का काफी प्रत्यक्षीकरण और स्पष्टीकरण भी हिन्दी के समीक्षकों ने किया है । ऐसा नहीं है कि हिन्दी के समीक्षक भी केवल विदेशी विचारधाराओं और अँग्रेजी पुस्तकों पर आश्रित हैं । मैं सोचता हूँ कि हिन्दी के समीक्षकों ने ऐसे रास्ते भी दिखाए हैं जो कि भारतीय विनम्रता के अनुरूप हैं, और उस विनम्रता के अनुरूप होने

में कई व्यक्तियों और कवियों को जो भी टिप्पणियाँ, जो भी विचारबिन्दु अपनाने पड़े उन की भी आवश्यकता थी ।

इस प्रकार साहित्य-चिंतन यासमीक्षा को केवल विश्वविद्यालय के एक काँच के मकान की भूमि की वस्तु बतलाना कहाँ तक उचित होगा ? हम सभी ही गाँवों के रहने वाले हैं । हम सभी अपनें गाँव के जीवन से परिचित हैं, नगर के जीवन से परिचित हैं । विद्यालय में जो कुछ हम पढ़ाते हैं, वह भी हमारे उसी अनुभव, उसी परिचय का परिणाम है । कोरे-कोरे अकेडेमिक तो हम नहीं हैं और ऐसा शायद कोई भी नहीं हो सकता क्योंकि कोरे-कोरे अकेडिमिक होने का मतलब है केवल अकेडेमिक पुस्तकों के आधार पर अपने ज्ञान का अर्जन करना । वे कभी कोरे अकेडेमिक हो ही नहीं सकते, जिन्होंने समाज देखा है, जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को देखा है ।

★

श्री रामकृष्ण नावड़ा

'साहित्य पर बाह्य प्रभाव' पर विचार करते समय जो तत्त्व सबसे अधिक विचारणीय है वह है कवि का व्यक्तित्व। एक ही प्रकार का भाव कुछ कमी-वेशी के साथ जो कवि अभिव्यक्त करते हैं उनमें से कोई तो अमर-अजर हो जाते हैं पर दूसरे अपने समय तक ही सीमित रह जाते हैं। यह बात अन्य किसी युग की अपेक्षा इस युग के लेखकों और कवियों पर अधिक लागू होती है। कवि के अपने विचार, भाव एवं उन्हें निरूपित करने की उसकी नानारूप विधि-कल्पना और इनके साथ अपने विश्वास के अनुरूप अपने जीवन को ढालने की उसकी दृढ़ता, ये सब उसके स्वभाव के अन्तर्गत आते हैं और कवि जिस स्वभाव का होता है उसी के अनुरूप उसका काव्य होता है। राजशेखर ने ठीक ही कहा था "स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।" जो कवि पारदर्शी प्रतिभा संपन्न होता है वह समाज की नब्ज़ को पहचानता है और उसकी विभिन्न व्यवितयों की चिकित्सा के लिए जिस वैचारिक या भावगत औषध की आवश्यकता होती है उसे वह दे देता है। वह तत्कालीन समाज द्वारा बाह्य समझे जाने वाले कई तत्त्वों को समेट लेता है और उनके बाह्यत्व को निजत्व में बदल देता है। क्या दर्शन के क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में, सब जगह यह बात समान रूप से लागू होती है। अवैदिक समझे जाने बाले बौद्ध धर्म के कितने ही तत्त्वों को शंकर ने समेटा। जैन धर्म की कितनी ही बातें समय पाकर हिन्दू धर्म में घुस आईं। तुलसी, कबीर, जायसी जैसे कवियों ने बाह्य समझी जाने वाली कितनी ही बातों

को हिन्दी काव्य तथा हिन्दू समाज के अनुकूल बनाया। इसलिए आचार्य आनंद वर्धन ने ठीक ही कहा कि—

"अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मैरोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।

अंग्रेजी कवि कॉलरिज भी कविप्रतिभा की तुलना सृष्टि के ईश्वरीय कार्य से करता है और कविता को अपरिच्छिन्न चैतन्य के नित्यसृष्टिकार्य का परिच्छिन्न चैतन्य में पुनरावृत्ति मानता है। जिस कवि की प्रतिभा इस प्रकार की हो उसके लिए कुछ भी बाह्य नहीं रह जाता। जैसे सुहागे से सोना खरा हो जाता है उसी प्रकार वह अपने विवेककौशल से अपाच्य को पाच्य, अगम को सुगम और असुंदर को सुन्दर बना देता है।

राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिकवाद जिन्हें हम साहित्य में अनुचित बाह्य प्रभाव मानते हैं और जो बुद्धिप्रधान होने के कारण मानव समाज को कोठरियों में बंद करते हैं कवि-प्रतिभा की आँधी में विलीन हो जाते हैं।

कन्नड साहित्य को बाह्य प्रभाव से संघर्ष करने के कई अवसर मिले। आर्य-द्राविड़ संघर्ष की बात मैं नहीं करता, क्योंकि इस संघर्ष का समन्वय हुए हजारों वर्ष हो गये। वेदांत के साथ जिस अवैदिक धर्म का संघर्ष कर्नाटक को करना पड़ा वह था जैन धर्म। ईसवी पूर्व दूसरी शती से ईसा की बारहवीं शती तक यह संघर्ष चला है और पीछे चलकर इसका सुन्दर समरस रूप निकला है। दसवीं-शती से लेकर बारहवीं शती तक का कन्नड साहित्य का युग चंपू युग माना जाता है और इसके प्रधान कवि है पंप, पोन्न, रन्न। ये तीनों जैन हैं और इनकी विशेषता यह रही कि इन्होंने अपनी धार्मिक भावना की तृप्ति के लिए किसी न किसी तीर्थ पर धार्मिक काव्य लिखा और समाज के लिए रामायण या महाभारत से कथानक लेकर लौकिक महाकाव्य लिखे। ये ही कवि कन्नड के सर्वोत्तम कविवर माने जाते हैं। इनके बाद वीरशैवों के समय में भी यही क्रम चला। हरिहर, राघवांक आदि प्रसिद्ध कवियों ने सांप्रदायिक काव्य भी लिखे और लौकिक काव्य भी। पीछे चलकर वैष्णव कवियों एवं दासों ने शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण की उपासना में अभेद बताकर विभिन्न संप्रदायों को एक दूसरे के निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया।

अँग्रेजी के आगमन के बाद १९वीं शती के कन्नड़ साहित्य में भी वही लहर आयी जो कि हिन्दी, बंगला आदि इतर भाषाओं में दिखाई देती है। नवीनता

की प्रेरणा, समाज सुधार, मानव गौरव, देश प्रेम आदि तत्त्व इस नवयुग की विशेषताएँ हैं। इनके कारण गद्य शैली का कविता, नाटक, लघुकथा, निबन्ध, और उपन्यास सभी में आधुनिकता के दर्शन उनके शिल्प, विषय वस्तु और भाषा, तीनों दृष्टियों से हो सकते हैं। इनमें कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जो अत्यधिक बौद्धिक होने के कारण साहित्य के योग्य नहीं कही जा सकतीं।

हिन्दी की कुछ बुद्धि-प्रधान कविताओं आदि के सम्बन्ध में कुछ विद्वान यह कहते हैं कि अब समय बदल गया है। अतः केवल रस सिद्धान्त से हमारा काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार भावप्रधान काव्यों में आलंबन का साधारणीकरण होता है उसी प्रकार बुद्धिप्रधान कविताओं में बुद्धिगत साधारणीकरण समझ लेना चाहिए। राजनीतिक दृष्टि से समान विचार रखने वालों के दल होते हैं, इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से समान विचार के साथ साधारणीकरण हो सकता है। इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि रस-सिद्धान्त सैकड़ों वर्षों से समय-समय पर विभिन्न कसौटियों पर कसा जाता हुआ आया है। हिन्दी का काव्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र की ही उपज है और यही बात भारत की अन्य सब भाषाओं के बारे में कही जा सकती है। कुछ विशेष प्रकार की कविताओं को देखकर एक नया सिद्धान्त तभी निकालना चाहिए जब कि अब तक के प्रचलित सिद्धान्तों में उन्हें समेटने की गुंजाइश हो। संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस, रसाभास, भाव, भावभास आदि रसकी कई स्थितियों की व्यवस्था है। इन्हीं में से किसी में नवयुग की बुद्धि प्रधान कविताओं को रखना उचित मालूम पड़ता है। कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि तथा समालोचक बेंद्रेजी इस प्रकार की कविताओं को भाव के अन्दर रखने के पक्ष में हैं। क्योंकि भरत मुनि के अनुकरण भाव भी रसमुक्त होता है। बाह्य प्रभाव के कारण सिद्धान्त निकालने में हमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। क्योंकि हमारे दर्शन, साहित्य शास्त्र, व्याकरण और वर्णमाला में भारतीय एकता के बीज मौजूद हैं। सामयिक बाह्य प्रभाव में आकर हमें भ्रमवश किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए।

★

डा० न. वीं. राजगोपालन

साहित्य का सम्बन्ध संस्कृति के साथ है। किसी देश की संस्कृति एवं सभ्यता की विशिष्टतम उपलब्धियों का प्रतीक होता है साहित्य। साहित्य का व्यक्तित्व किसी संस्कृति के व्यक्तित्व का प्रतिविम्ब है।

सांस्कृतिक विचारधारा तथा उसके स्वरूप का परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इस परिवर्तन के ऐतिहासिक तथा अन्य प्रकार के अनेक कारण हो सकते हैं। जब कभी अन्य संस्कृतियों का सम्पर्क एक संस्कृति को प्राप्त होता है तब किसी संस्कृति में अवश्य ही परिवर्तन उपस्थित होता है। इस परिवर्तन को पहले प्रभाव मान लेते हैं। जब तक परिवर्तन स्वतः ही होता है अर्थात् संस्कृति के व्यक्तित्व के द्वारा आत्मसात् पूर्णरूपेण नहीं कर लिया जाता तब तक वह केवल प्रभाव बनकर रहता है। उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाने पर वह प्रभावमात्र नहीं रह जाता।

एक साहित्य पर अन्यदेशीय साहित्य का प्रभाव अनेक प्रकार से होता है। भाषा, अभिव्यक्ति, शैली तथा चिन्तन-पद्धति में अन्यदेशीय छाया कभी-कभी किसी लेखक की रचना में दिखाई पड़ती है। जब तक यह छाया उस साहित्य की विशिष्ट संस्कृति के द्वारा पूर्णतया स्वीकृत नहीं होती तब तक वह बाहरी चीज़ बनकर रहती है।

भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट स्वरूप है जिसका ऐतिहासिक विकास वैदिक काल से होता रहा है। इसके आधार में आध्यात्मिक साधना, रहस्यानुभूति,

ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में प्राप्त तथ्य इत्यादि अनेक तत्त्व हैं। इस संस्कृति का मुख्य प्रतिनिधि-साहित्य है—संस्कृत साहित्य। भारत की अन्य सभी भाषाओं में विद्यमान साहित्य भी इस प्राचीन संस्कृति का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व वहन करता है। संस्कृत की वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति इत्यादि साहित्यकारों की परम्परा तथा उनकी कृतियों की परम्परा भारत की सभी भाषाओं में प्रत्येक युग में किंचित परिवर्तन के साथ अभी तक प्रचलित रही है। तुलसी, कम्बन, ज्ञानेश्वर, पोतना, कृत्तिवास, शंकरदेव, इत्यादि विविध नाम इस प्रसंग में उल्लिखित किये जाते हैं।

रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद तथा आगम—इत्यादि ग्रंथ संस्कृत भाषा में निर्मित हुए और यह भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रंथ माने गये। भारत की अन्य सभी भाषाओं का साहित्य उक्त कृतियों के आधार पर निर्मित हुआ है। यद्यपि तीन हजार वर्ष प्राचीन तमिल साहित्य में विशेषकर तमिल के संघकालीन साहित्य में एक ऐसी संस्कृति का चित्रण हुआ है जो संस्कृत साहित्य में प्रतिविम्बित संस्कृति से सर्वथा भिन्न दिखाई पड़ती है। फिर भी ईसा के पश्चात् का तमिल साहित्य भारत के अन्य भाषा साहित्य से एकरूप हो गया है। तमिल के आलवारों तथा नायनमारों के द्वारा निर्मित भक्ति-भावना से परिपूरित सारस्वत की धारा भारत की अन्य भाषाओं में भी अनेक शाखाओं में प्रवाहित हो गई। सारांश यह है कि चाहे तमिल हो, चाहे संस्कृत हो या भारत की कोई भी भाषा हो, सभी के साहित्य में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक है, सभी की चिन्तन-पद्धति एक है और सभी की भावना एक है।

'बाह्य' शब्द का कुछ विवेचन आवश्यक है। वैसे मानव जीवन सभी देशों में एक समान भावनाओं से प्रेम, क्रोध, भय आदि भावों से प्रेरित होता रहता है। मानव-हृदय सभी देशों में एक समान है। कोई तात्विक अन्तर नहीं रखता। परन्तु मनुष्य का बाह्य व्यवहार अथवा सामाजिक जीवन का बाह्य रूप भिन्न-भिन्न होता है। इस भिन्नता का कारण सांस्कृतिक होता है।

ज्ञान-विज्ञान, दर्शन आदि भाषा या राष्ट्र की सीमा से परे हैं। ये सार्वभौमिक स्वत्व होते हैं। तो भी प्रथम उपलब्धि, प्रथम उद्‌भावना अथवा प्रथम प्राप्ति के कारण किसी देश-विशेष का स्वत्व माने जाते हैं। कालान्तर में अन्य देशों के द्वारा स्वीकृत होकर ये सभी के स्वत्व बन जाते हैं।

अतएव साहित्य या विज्ञान के क्षेत्र में वास्तव में कोई भी वस्तु बाह्य नहीं होती। प्रश्न आत्मसात करने का है।

भारतीय संस्कृति आदिकाल से ही अत्यन्त उदार रही है । सत्य को इसने ग्रहण किया है । सभी दिशाओं से, सभी देशों से, सभी व्यक्तियों से इसने सत्य का स्वागत किया है । सार्वभौमिक हित, विश्व-मानवता, प्रेम तथा पारमार्थिकता इसकी प्रधान विशेषताएँ रही हैं । भारतीय साहित्य में ये लक्षण विद्यमान हैं । संस्कृत जैसी पुष्ट, शक्ति सम्पन्न तथा धर्मप्राण भाषा में भी वराहमिहिर, कालिदास जैसे लोगों के काल से ही ग्रीक आदि अन्य भाषाओं के प्रभाव देखे गये हैं । होरा, ज्यामिति, आपोक्लिम इत्यादि शब्दावली संस्कृत में बाहर से आई । आज की भारतीय भाषाओं में तो अंग्रेजी, फ्रेंच, अरबी, फारसी इत्यादि अनेक भाषाओं की शब्दावली प्रचलित हो गई है । साहित्य में ऐसी भाषा का प्रयोग बराबर होने लगा है । साहित्य पर यह एक प्रकार का बाह्य प्रभाव है ।

प्राचीन शब्दों का अर्थ-विकास नये-नये परिवेशों में नये प्रकार से होता रहा है । पाश्चात्य संस्कृति एवं वैज्ञानिक युग के सम्पर्क के कारण प्राचीन संस्कृत शब्दावली नये-नये अर्थों में आज प्रयुक्त हो रही है । हिन्दी में संस्कृत की तत्सम शब्दावली नये-नये अर्थों में प्रयुक्त होती है । इस अर्थ-विकास का आधार बाह्य प्रभाव ही है । स्वयं 'प्रभाव' शब्द को लीजिए । आज जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हम कर रहे हैं, वह नया अर्थ है । 'प्रभाव' का प्राचीन अर्थ कुछ और था । पराक्रम, अधिकार, प्रभुत्व आदि इस शब्द के पुराने अर्थ थे । 'प्रभावित करना', 'प्रभाव डालना' इत्यादि अंग्रेजी की छाया में बने हुये प्रयोग हैं ।

'परिप्रेक्ष्य' 'परिवेश', 'पृष्ठभूमि' इत्यादि शब्दों के अर्थ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं ।

आजकल की रचनाओं में जो भाषा-शैली प्रयुक्त होती है उसमें ऐसे असंख्य प्रयोग दिखाई पड़ते हैं ।

चिन्तन-पद्धति में जो विभिन्न वाद माने जाते हैं उनमें अधिकांश बाह्य प्रभाव के लक्षण हैं । भारत के आधुनिक साहित्य में प्रचलित— विशेषकर हिन्दी साहित्य में, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रकृतिवाद आदि का आधार विदेशी चिन्तन-पद्धति में है । अस्तित्ववाद मार्क्सवाद इत्यादि दार्शनिक मतवादों का पोषण विदेशी वातावरण में ही अधिक हुआ है । अपनी भाषाओं के साहित्य में विदेशी समाज की अथवा अन्यदेशीय परिस्थितियों की विशिष्ट

अनुभूतियों का चित्रण एक प्रकार का चमत्कार, कौतूहल अथवा विस्मय अवश्य उत्पन्न करता है। परन्तु भारतीय पाठक अपनी अनुभूतियों के जगत के साथ इन विदेशी अनुभूतियों का सामरस्य कम कर पाता है। इन अनुभूतियों को समझने के लिए या हृदयंगम करने के लिये विदेशी साहित्य का परिचय अपेक्षित होता है। साहित्य में नवीनता तथा मौलिकता का मान सदा होता है। कृतिकार इस गुण को लाने के प्रयत्न में अपनी परम्परा को तज कर कभी-कभी विदेशी प्रभाव को जान-बूझकर लाता है। ऐसी नवीनता जो अपनी मिट्टी में नहीं पनप सके, केवल असफल अनुकृति-मात्र है। वास्तव में साहित्य की ऐसी विशेषताएँ ही 'बाह्य प्रभाव' बने रह जाते हैं। यह अवश्य है कि समर्थ लेखक किसी भी अनुभूति को साहित्योचित प्रेषणीयता से समाविष्ट कर देता है जिससे कि कोई भी पाठक उसे हृदयंगम कर सके। मगर इसके लिए यह आवश्यक है कि कृतिकार उस अनुभूति को अपने व्यक्तित्व का अंग बना ले। यानी कोई विशेषता केवल प्रभाव है अथवा सहजगुण है—यह प्रश्न कृतिकार के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है। यदि साहित्य-निर्माता केवल बौद्धिक स्तर से रचना करता हो तो बहुत सी बातें सतही बनकर रह जाती हैं। यदि वह यथार्थ, आत्मानुभूति तथा सहज भावस्फूर्ति से प्रेरित होकर रचना करता हो तो उसकी रचना में कोई भी विशेषता बाह्य प्रभाव नहीं रहती। कालिदास जैसे कवियों ने अनेक बाह्य प्रभावों को इस प्रकार अपना लिया है और अपनी रचनाओं में उनको इस प्रकार समाविष्ट कर दिया है कि उन्हें बाह्य मानना असम्भव है।

आजकल हिन्दी साहित्य में अनेक नवीन प्रकार की रचनाएँ निकलती रहती हैं। वास्तव में बाह्य प्रभाव का प्रश्न ऐसी रचनाओं को देखकर किया जाता है। मेरे विचार में यह प्रश्न साहित्य का व्यापक प्रश्न नहीं है।

हिन्दी जगत में अधिकतर साहित्य विश्वविद्यालय से निर्मित हो रहा है अथवा यों कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों के अध्यापक और अनुसंधान-कर्त्ता ही साहित्य निर्माण में लगे रहते हैं। दूसर वे लोग हैं जिन्हें पत्रकार कहना उपयुक्त होगा। केवल कलात्मक अथवा रचनात्मक प्रवृति से प्रेरित होकर साहित्य सृष्टि करने वाले लोगों की संख्या परिमित ही है। प्रथम प्रकार के साहित्यकारों का सम्पर्क कदाचित विदेशी साहित्य से जितना है उतना भारतीय साहित्य से नहीं है। कदाचित यह फैशन के विरुद्ध है कि अपनी प्राचीन परम्परा का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया जाय। परम्परावाद कहकर ऐसे परिचय को त्याज्य कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि बाहरी

अनुभूति को बाह्य ही बनाकर अपनी कृतियों में यह लोग रख देते हैं । आजकल के समालोचना-साहित्य में और कविता में भी दूरदर्शी पाठक विदेशी प्रभाव को थेगली के जैसे ही पाता है । बाह्य प्रभाव का प्रश्न इस वर्ग के साहित्य में ही अधिक गम्भीर है ।

तमिल, तेलुगु जैसी दक्षिणी भाषाओं का साहित्य ऐसे प्रभावों से अपेक्षाकृत कम प्रभावित है । साथ ही विदेशी साहित्यिक प्रवृतियों का यत्किंचित परिचय भी उनके द्वारा प्राप्त करना असम्भव है । इसको उन साहित्यों की कमी माना जाय अथवा गुण—यह विवाद का प्रश्न होगा ।

*

प्रो० के० आरु मुखम्

सामाजिक प्रभाव :

तमिल भाषा दो हजार वर्ष पुरानी है। अत्यन्त प्राचीनकाल से तमिल प्रदेश के लोग विदेशियों से और विदेशी तमिल प्रान्त के लोगों से व्यापार आदि करके परस्पर सम्बन्धित रहे हैं। यूरोप की यवन जाति ने दक्षिण के बंदरगाहों पर रहकर व्यापार किया। मदुरा के राजा ने अगस्त सीसर के पास अपना दूत भेजा था, ऐसा विदेशी विद्वान स्टेवो ने लिखा है। इतिहास के ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि रोम की रानी पांडु राजा के मोतियों को बहुत चाहती थी। यवन देश के दीपों ने तमिल प्रान्त के राजमहलों को अलंकृत किया। तमिल प्रान्त की वस्तुओं के साथ-साथ उनके वाचक शब्द भी यवन देश पहुँच गये। 'राइस' शब्द तमिल भाषा के 'अरिशि' शब्द का ही रूप है। 'मोर' का वाचक तमिल शब्द 'तोकै' ही यवन भाषा में 'तुकि' बन गया।

तमिल लोगों का आर्यों से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। तमिल लोगों एवं आर्यों का यह सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल में ही था, ऐसा प्रमाण मिलता है। तमिलभाषियों ने आर्यों की संस्कृति को एवं आर्यों ने तमिल भाषा को सीखा। आर्यों ने अपनी भाषा एवं कला को तमिल भाषा में प्रविष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। तमिल ग्रन्थों में लिखा है कि आर्यों के प्रभाव से अत्यन्त प्राचीनकाल में ही जाति-भेद-हीन तमिल-समाज में जाति-भेद की भावना आ गई। प्राचीन साहित्य का एक उदाहरण है। काव्य नायक और काव्य

नायिका चकित होकर एक दूसरे से पूछते हैं कि "मेरी माता एवं तुम्हारी माता का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरे पिता का तुम्हारे पिता से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी हम दोनों का मिलन कैसे हुआ है। यह कैसी बात है?" इससे पता लगता है कि उस समय के समाज में कैसा उल्लसित जीवन होता था। चार प्रकार की जातियों का एवं उन जातियों में भी ऊँच व नीच जाति का विभाजन हुआ। आर्यों के प्रभाव से ही इसका वर्णन तमिल ग्रन्थों में मिलता है।

जनता में जाति-भेद के साथ-साथ अमीर-गरीब का भेद भी था। षटरस व्यंजन खाकर विशाल महलों में रहने वाले अमीरों के आडम्बर-पूर्ण जीवन का और बेघरवार निर्धन व्यक्तियों के कष्टमय जीवन का वर्णन साहित्य ग्रन्थों में मिलता है। इससे तमिल विद्वानों ने समाजवादी समाज (सोशियलिस्टिक सोसायटी) की आवश्यकता अनुभव की। अपने काव्य ग्रन्थों में जहाँ भी देश, नगर आदि का वर्णन किया है वहाँ अपने विचार प्रगट किये हैं।

महाकवि कम्बर कोशल देश का इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

कोशल राज में याचकों को देने वाला कोई नहीं है, कारण वहाँ याचक ही नहीं है। सत्यवादी की प्रशंसा करने वाला कोई नहीं है, कारण वहाँ मिथ्यावादी ही नहीं है। बलशाली या पराक्रमी कहकर किसी की प्रशंसा नहीं की जाती, कारण उनके विरोधी कोई भी नहीं हैं। विद्वान कह कर किसी की प्रशंसा नहीं की जाती, क्योंकि वहाँ शिक्षाहीन व्यक्ति ही नहीं हैं। इस प्रकार कम्बर ने निन्दा के व्याज से कोशल राज की प्रशंसा की है। इस प्रकार की समाजवादी विचारधारा से कम्बर के प्रभावित होने का प्रमुख कारण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति ही है। विद्वानों का कहना है कि समाजसम्बन्धी इस विचारधारा का मूल्य आर्यों का जाति-विभाजन ही है।

राजनैतिक प्रभाव :

समाज के साथ-साथ राजनैतिक परिस्थितियों के कारण भी साहित्य का रूप परिवर्तन हो सकता है। एक राज के राजा द्वारा जीता जाना, उस पर एकाधिपत्य स्थापित कर निर्दयता से शासन करना, आदि का वर्णन प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। मोशिकीरन, नामक विद्वान् कहते हैं कि— "जनता के प्राण अन्न एवं जल नहीं अपितु शासक है।" उन्होंने अपने ग्रन्थों में जनता की कल्पना शरीर रूप में एवं शासक की कल्पना उस शरीर में स्थित प्राण के रूप में की है। जिस प्रकार शरीर प्राणों का अनुसरण करता है उसी प्रकार एकतंत्र राज में जनता शासक का अनुसरण करती है।

कम्बर के काल तक आइए। वे स्वयं एकतंत्र से घृणा करते हैं तथा गणतंत्र चाहते हैं। कम्बर ने रामायण लिखी है। इसमें संदेह नहीं कि रामायण एकतंत्रीय राज का समर्थन करने वाला ग्रन्थ है। परन्तु कम्बर अपने समय की जनता की भावनाओं से परिचित थे। अतः उन्होंने अयोध्या नगरी में एकतंत्र के स्थान पर गणतंत्र राज स्थापित करने का प्रयत्न किया। यहाँ कम्बर ने जनता की कल्पना प्राणों के रूप में और राजा की कल्पना शरीर के रूप में की है। जैसे शरीर प्राणों का अनुसरण करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा की इच्छा के अनुसार चलनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि कम्ब रामायण में भी गणतंत्र शासन को विशेष स्थान मिला है। ग्रीक समाज में व्याप्त गणतंत्र-संबंधी विचार, पारस्परिक सम्बन्ध तमिल जनता के मन में बस गये। अतः यह कहा जा सकता है कि यह तमिल साहित्य पर ग्रीक विचारधारा का प्रभाव है। सुब्रह्मण्यर भारतियार के युग पर आते हैं। उस समय अँग्रेजों का शासन था। उस क्रूर शासनकाल में अँग्रेज व्यापार करके एवं करों के रूप में भारतीय वस्तुओं को अपना लेते हैं। राजा लोग जनता के धन के बल पर आडम्बरपूर्ण विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। ऐसे वातावरण में भारतियार ने "पांचाली शपथम्" की रचना की। अँग्रेजों ने हमारे देश को अपना बना लिया तथा वे हमारे देश की जनता पर शासन कर रहे हैं, इस विचार से भारती अत्यंत दुखी हुए। उनकी कविता में उनका मानसिक क्षोभ व्यक्त हुआ है। अँग्रेजों की निर्दयता का आरोप उन्होंने अपने पात्र 'धर्मन्' अर्थात् युधिष्ठर पर किया है। धर्मन् जनता के राज को अपना समझकर उस धन से जुआ खेलता है तथा सब कुछ हार जाता है। मंदिर की देखभाल के लिए यदि एक पुजारी नियत करें तो क्या यह उचित है कि पुजारी मंदिर की मूर्तियों को अपना समझकर, उन्हें बेच कर धन कमाए? देश की रक्षा करने के लिए हमने धर्मन् को नियुक्त किया क्या यह उचित है कि वह देश का सत्यानाश करें? इस प्रकार दूसरों के राज को अपना बना लेते हैं। भारतियार के पांचाली शपथम् में भीम ये ही बातें युधिष्ठर के विरोध में कहकर उबल पड़ता है। 'महाभारत' में तथा 'पांचाली शपथम्' में बहुत ही परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण अँग्रेज शासन एवं तत्कालीन राजनैतिक स्थिति ही है। अँग्रेजी शासन का प्रभाव तमिल साहित्य पर विशेषतया दिखाई पड़ता है।

धार्मिक प्रभाव :

संघम्‌कालीन साहित्य में अर्थात् दो हजार वर्ष के पूर्व के साहित्य में धर्म को विशेष स्थान नहीं मिला। पुण्य करने पर स्वर्ग एवं पाप से नरक मिलेगा,

ऐसा विश्वास होने पर भी साहित्यिक ग्रन्थों में इस विचार को विशेष बल नहीं दिया गया। इस जन्म में किये गये सत्यकर्म दूसरे जन्म में उच्च-जन्म प्रदान करेंगे—इस धार्मिक विश्वास को धर्म का व्यापार कहा गया है। तिरुक्कुरल में कहा गया है कि स्वर्ग प्राप्ति की चिन्ता न करते हुए किया गया दान ही उत्तम है। जैन एवं बौद्ध मतों के संसर्ग से तमिल ग्रन्थों में पुण्य-पाप, जन्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी धार्मिक विचार धाराओं का समावेश अधिक होने लगा। शिलप्पधिकारम् नामक जैन काव्य इस बात पर बल देता है कि नियति कभी नहीं टलती, अर्थात् होनी होकर रहती है। मणिमेखलै नामक बौद्ध काव्य में इस विचार ने और भी जोर पकड़ा है। एक कुत्ता भी अपने सत्यकर्मों के कारण दूसरे जन्म में "सुतंजन नरदेव" बन जाता है। इस उन्नति की प्रशंसा जैन काव्य चिंतामणि में की गई है। शैव एवं वैष्णम मत भी इन्हीं विचारों को लेकर चले हैं। पट्टाभिषेक की सभी तैयारियाँ हो जाने के उपरांत भी राम को काषाय वस्त्र धारण कर वन जाना पड़ता है। अतः राम-ब्रह्म भी नियति को नहीं टाल सकते। यह कह-कर कम्बर अपनी रामायण में नियति शब्द की स्थापना करते हैं।

स्त्री-पुरुष के ऊँच-नीच भेद रहित जीवन का वर्णन ही संघमकालीन ग्रंथों में मिलता है। स्त्री की पुरुषार्थ हीनता, स्त्री रूप में स्वर्ग प्राप्ति की क्षमता की हीनता, पुनः दूसरे जन्म में पुरुष बनकर ही स्वर्ग की प्राप्ति होना आदि विचार जैन आदि मतों में ही मिलते हैं। संघमकालीन ग्रन्थों में जहाँ इस विचारधारा का सर्वथा अभाव है वहाँ महाकाव्य कालीन ग्रन्थों में इस विचारधारा को महत्त्व मिला है। स्त्री, स्त्री-रूप में स्वर्ग की प्राप्ति नहीं कर पाती, परन्तु दूसरे जन्म में पुरुष बनकर देव कन्याओं के साथ स्वर्ग सुख की प्राप्ति करती है। इस धार्मिक विचारधारा का प्रतिपादन चिंतामणि नामक जैन काव्य में किया गया है।

संघमकालीन ग्रन्थों में जहाँ स्त्री-सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है वहाँ जैन एवं बौद्ध मत से प्रभावित तमिल काव्यों में स्त्री की निन्दा की गई है। संघम-कालीन ग्रन्थों में स्त्री के नेत्र की उपमा कमल, आम्र बौर एवं भाले से दी गई है एवं उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है। दूसरी ओर जैन काव्य "नालडियार" का रचयिता कहता है—भाले के समान तीक्ष्ण नेत्र वाली इस युवती से प्रेम न करो। आज के इन नेत्रों का प्रकाश भी एक दिन मन्द पड़ जाएगा। तब यह स्त्री डण्डे का नेत्र लेकर चला करेगी, इस तत्त्व पर भी विचार करो। स्त्री-निन्दा सम्बन्धी यह विचार जैन मत के प्रभाव से ही तमिल साहित्य में आया।

स्त्री-पुरुष के आनन्दमय गृहस्थ जीवन का चित्रण ही संघमकालीन ग्रन्थों में मिलता है। वृद्धावस्था में कामवासना के दमन होने के उपरांत भी नायक-नायिका अथवा पति-पत्नी का एक दूसरे से अलग होकर रहने का वर्णन संघम-कालीन ग्रन्थों में नहीं हुआ। तोलकाप्पियम् में यह लिखा है कि वृद्धावस्था में भी पति-पत्नी परस्पर मिलकर रहते थे एवं गृहस्थ जीवन का आनन्द उठाते थे। पत्नी एवं बच्चों का त्याग कर संन्यास धारण करने के भाव जैन-बौद्ध आदि मतों से ही सम्बन्धित हैं। अतः चिंतामणि, शिलप्पाधिकारम्, मणिमेखलै आदि काव्य ग्रन्थों एवं नालिडियार जैसे धर्म-ग्रन्थों में इस भावना को विशिष्ट स्थान मिला है।

जैन-बौद्ध मत सम्बन्धी इस विचारधारा ने, कि स्त्री पुरुषार्थ से हीन है, परिमेललकर जैसे टीकाकार को भी प्रभावित किया। तिरुवल्लुवर ने लिखा है कि बुद्धिमान बच्चों को पाना परम सौभाग्य है। यहाँ तिरुवल्लुवर ने स्त्री एवं पुरुष में से किसी एक को विशेष महत्त्व न देकर जातिवाचक शब्द 'बच्चे' का प्रयोग दिया है। परन्तु जैन विचारधारा से प्रभावित परिमेललकर का कहना है कि 'बुद्धिमान बच्चे' शब्द यहाँ पुरुष का ही वाचक है। पट्टनत्तार, शिल्प कासर, अरुणगिरि नादर जैसे शैव आचार्यों ने भी जैन मत से प्रभावित होकर, अपने पदों में स्त्री की एवं गृहस्थ जीवन की निंदा करके उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्ति की है। परन्तु शैव एवं वैष्णव आचार्य इस विचारधारा को पूर्णतया ग्रहण न कर सके। कम्बर ने अपनी रामायण में सीता के उच्च चरित्र की महिमा गायी है। राम को ईश्वर मानने वाले हनुमान सीता को देखकर उन्हें राम से भी बड़ा देव कहते हैं 'मेरे महान् देवता, कहकर हनुमान सीता की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही बीसवीं शती के "कविमणि" देशिक विनायकम् पिल्लै लिखते हैं—स्त्री जन्म की प्राप्ति के लिए महान् तप करना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने स्त्री जन्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध मत के प्रभाव से तमिल साहित्य में स्त्री हीनता सम्बन्धी इस विचारधारा को परिवर्तित करने का प्रयत्न शैव एवं वैष्णव साहित्य ग्रंथों में एवं बाद के साहित्य ग्रन्थों में किया गया है।

साहित्यिक प्रभाव :

संघम काल में विविध मुक्तक कविताओं के संग्रह ही साहित्य क्षेत्र में दिखाई पड़ते हैं। उन लघु कविताओं में छोटी-छोटी घटनाओं का ही वर्णन है। सौ से

अधिक पंक्तियों वाला 'पत्तु-प्-पाट्टु' नामक ग्रन्थ भी एक घटना का वर्णन करने वाला काव्य ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जैन आदि मतों के प्रभाव से ही तमिल साहित्य में नाना साहित्य रूपों का प्रादुर्भाव हुआ। तमिल प्रान्त में जैन एवं बौद्ध मतों का प्रचार होने पर अनेक तमिल भाषियों ने उन मतों को अपनाया। इन जैन मतानुयायियों में अनेक तमिल विद्वान भी थे। उन्होंने अपने मत सम्बन्धी विचारधाराओं का प्रचार करना चाहा। उन्होंने अपने मत सम्बन्धी विचारधाराओं का काव्य रूप में वर्णन किया तथा अपने काव्यों में मत सम्बन्धी विचारों को प्रधानता दी। शिलप्पधिकारम् नामक जैन काव्य ही तमिल साहित्य का प्रथम महाकाव्य है।

धर्मशास्त्र

काव्य के माध्यम से धर्म-सम्बन्धी विचारधाराओं को प्रतिपादित करने के साथ-साथ नाना धर्म-ग्रन्थों की भी सर्जना की गयी। इस प्रकार धर्म सम्बन्धी साहित्य का भी सर्जन हुआ। नालडियार्, तिरुक्कुरल, तिरिकडुकम् आदि इसी प्रकार के साहित्य ग्रन्थ हैं। इन्हें नीति साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है।

पुराण ग्रंथ

आर्यों के संसर्ग से तमिल भाषा में 'पुराणम्' नामक एक नवीन "साहित्य रूप" का आगमन हुआ। आर्य लोग दर्शन-शास्त्र एवं विभिन्न कलाओं में पारंगत थे। तमिल भाषियों ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप ग्रन्थों की रचना की। तमिल भाषियों ने अनेक तीर्थ स्थान और क्षेत्रों के बारे में काव्य रचे हैं। इनको "स्थल-पुराण" कहते हैं। आर्यों ने इन स्थलपुराणों का अनुवाद किया तथा इस मत का प्रतिपादन किया कि संस्कृत में स्थलपुराण बहुत समय पहले ही लिखे जा चुके थे तथा वहीं से वे तमिल साहित्य में आये। अनेक तमिल विद्वानों ने आर्यों के इस कथन पर विश्वास किया, संस्कृत पुराणों को पूर्ववर्ती माना एवं उनके अनुरूप तमिल में स्थलपुराणों की रचना की। इस प्रकार पुराणम् नामक साहित्य रूप का प्रवेश तमिल साहित्य में हुआ। आर्यों के उपरान्त आने वाले मुसलमानों एवं योरोपवासियों ने भी अनेक पुराणों की रचना की।

अलंकार शास्त्र

आर्यों के संसर्ग से तमिल साहित्य में भी अनेक परिवर्तन हुए। प्राचीन तमिल भाषा में शब्द, रूप एवं विषय से सम्बन्धित तीन प्रकार का साहित्य ही था।

उसमें अलकार साहित्य नामक एक साहित्य नहीं था। 'तोलकाप्पियम्' में उपमा का वर्णन मिलता है। वहाँ उपमा के नाना प्रकारों का भी वर्णन किया गया है। संस्कृत विद्वानों ने अपने प्रभाव से तमिल अलंकारों का विकास किया। फलस्वरूप दण्डी अलंकारम्, मारन् अलंकारम् आदि अलंकार ग्रन्थों का सृजन हुआ। उपमा नामक एक अलंकार में सीमित अलंकार-शास्त्र अत्यन्त विस्तृत हुआ एवं नाना नवीन अलंकारों की उद्‌भावना की गई। विद्वानों का मत है कि अधिकांश अलंकार उपमा पर ही आधारित हैं। एक अलंकार से नाना अलंकारों के उदय का कारण संस्कृत का प्रभाव ही है।

व्याकरण

'तोलकाप्पियम्' तमिल भाषा का व्याकरण है। संस्कृत के प्रभाव से बाद में लिखे जाने वाले तमिल व्याकरण ग्रन्थों में संस्कृत व्याकरण का अनुसरण किया गया। "नन्नूल" के रचयिता "पवणान्दि" एवं "चिन्नुल्" के रचयिता "गुणवीर पण्डितर्" ने संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों के आधार पर ही अपने ग्रन्थों की रचना की। "वीर चोलियम्" नामक तमिल व्याकरण ग्रन्थ पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव है। "प्रयोगविवेकम्" नामक ग्रन्थ के रचयिता "सुब्रमण्य दीक्षितर्" ने संस्कृत शब्द शास्त्र को तमिल में कहा है तथा उसकी तुलना तमिल से की है। व्याकरणाचार्य "ईशान-देशिगर" ने संस्कृत व्याकरण का समावेश तमिल व्याकरण में किया। इसके उपरान्त "शिवज्ञान मुनिवर" ने पूर्वकथित विचारों का खण्डन किया तथा स्पष्ट कर दिया कि तमिल व्याकरण एवं संस्कृत व्याकरण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

यूरोपवासियों के प्रभाव से भी तमिल व्याकरण का विकास हुआ, तमिल भाषा के अनुरूप व्याकरण के पाँच अंगों—अक्षर, शब्द, काव्य-विषय, अलंकार एवं छन्द का विस्तृत वर्णन "वीरमामुनिवर्" ने अत्यन्त सरल भाषा में किया। उक्त वर्णन "तोन्नूल विलक्कम्" नामक उनके ग्रन्थ में मिलता है।

कोश

कोश युरोपवासियों के संसर्ग में उद्‌भूत एक प्रकार का ग्रन्थ है। तमिल में ऐसे अनेक ग्रन्थ थे जिनमें शब्दों के अर्थ का उल्लेख था। उन्हें 'निघण्डु' कहा जाता था। उन पद्यों को जानने वाले विद्वान ही शब्दों के अर्थ जान सकते थे। साधारण जनता शब्दों के विशिष्ट अर्थ से अनभिज्ञ थी। किसी भाषा के सहस्त्रों शब्दों को एकत्रित करके उनके अर्थों को सरल भाषा में प्रकट करने वाले कोश

नामक ग्रन्थ की रचना करने का श्रेय यूरोपवासी तमिल ज्ञाताओं को है। उन्होंने तमिल वर्णों से बनने वाले शब्दों को एकत्रित करके, उनके अर्थ दिए एवं अकारादि क्रम से उनको संकलित कर कोश की रचना की। "वीरमामुनिवर" नामक यूरोपीय तमिल ज्ञाता ने सर्वप्रथम "चतुरकरादि" नामक तमिल कोश की रचना की। तत्पश्चात् तमिल-लैटिन कोश, पुर्तगालो-तमिल-लैटिन कोश आदि अनेक कोशों की रचना हुई। यूरोप-वासियों द्वारा रचित इन कोशों के आधार पर अनेक कोश लिखे जाने लगे हैं। आज हम किसी भी शब्द का अर्थ सुलभ ही जान सकते हैं।

गद्य साहित्य

यूरोपियों के आगमन के पूर्व तमिल में शुद्ध गद्य साहित्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे। सत्रहवीं शताब्दी में रोबरट डी नोबिली नामक इटली का निवासी तमिल प्रान्त में आया। उसने तमिल जनता को गद्य साहित्य का परिचय दिया। "एशुनादर् चरित्रम्", "तत्वकण्णाडी" आदि इनके गद्य ग्रंथ हैं। इनके उपरांत अठारहवीं शताब्दी में "बेसकी" नामक विद्वान् ने कुछ गद्य ग्रन्थ लिखे। "वेदियर ओलुक्कम्" नामक इनका ग्रन्थ सरल गद्य में लिखा गद्य ग्रन्थ है। यूरोपीय ससर्ग से उद्भूत गद्य नामक विधा को अपनाकर तमिल विद्वानों ने अनेक गद्य-ग्रन्थों की सर्जना की। इन विद्वानों में प्रमुख हैं रामलिंग स्वामिकल्, शिव प्रकाशर, आरुमुख नावलर आदि।

कहानी एवं उपन्यास

कहानी एव उपन्यास में भी यूरोपीय संसर्ग से तमिल साहित्य में आयी नई विधाएँ हैं। फादर वेसुकी अथवा 'वीरमामुनिवर्' ने तमिल में "परमार्थ गुरू कदै" ग्रन्थ लिखा। यह कहानी हास्यपूर्ण है। यूरोपीय ईसाइयों के गद्य ग्रन्थों एवं आख्यायिकाओं से प्रभावित होकर तमिल प्रान्त के ईसाई वेदनायकम् पिल्ले ने कुछ उपन्यास लिखे जिन्हें वृद्ध कथा कहा जा सकता है। "प्रताप मुदलियार चरित्रम्" एव "सुगुण सुन्दरी" उनके उपन्यास हैं। तत्पश्चात् उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी में तमिल में अनेक कहानियाँ एवं उपन्यासों की सर्जना हुई।

आलोचनात्मक साहित्य

तमिल साहित्य में साहित्यिक आलोचना, भाषा-सम्बन्धी आलोचना एवं इतिहास-सम्बन्धी आलोचना का प्रादुर्भाव हुआ। आलोचना सम्बन्धी ग्रन्थों की

सर्जना में अँग्रेजी के आलोचना शास्त्र सम्बन्धी ये ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध हुए। डा० काल्डवेल ने द्राविड़ भाषाओं का अध्ययन किया तथा उनकी तुलना करते हुए एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है "द्राविड़ी भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण" इसके उपरान्त सूर्य नारायण शास्त्रीयार, मु० वरदराजन् आदि तमिल विद्वानों ने अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों की सर्जना की।

विदेशी आलोचना रीति के अनुरूप ही तमिल साहित्य के ग्रन्थों की आलोचना की गई। तमिल के प्रसिद्ध आलोचकों में ते० पो० मीनाक्षीसुन्दरम् आदि प्रमुख हैं अँग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं की ऐतिहासिक आलोचना से प्रभावित होने के कारण तमिल प्रान्त के इतिहास की भी आलोचना की गई। "कन्दैया पिल्ले" के तमिलर शास्त्रम्, तमिलकम्, तमिलइंडिया आदि ग्रन्थ राजमाणिक्कर के चोलर्वरलारु (चोलवंशीय इतिहास) आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक आलोचना के ग्रन्थ हैं।

भाषा पर प्रभाव

बौद्ध एवं जैन मतों के प्रभाव से तमिल भाषा में एक नवीन शैली का आगमन हुआ जिसे मणिप्रवाल शैली कहते हैं। वे लोग संस्कृत जानते थे एवं तमिल भाषा भी सीख गये थे। अपने द्विभाषा-विषयक ज्ञान का प्रयोग कर उन्होंने मणिप्रवाल शैली की सर्जना की तथा उसे तमिल भाषा में समाविष्ट कर दिया। समान मात्रा में तमिल एवं संस्कृत के शब्दों को मिलाने पर "मणि-प्रवाल" शैली का उदय होता है। मणि (मुक्ता) एवं प्रवाल युक्त माला नेत्रों को सुख देती है इसी प्रकार तमिल एवं संस्कृत मिली हुई शैली कर्णप्रिय होती है, ऐसा वे सोचते थे। श्री पुराणम् नामक जैन ग्रन्थ मणिप्रवाल शैली में लिखा गया है। नीति-सम्बन्धी एवं-धर्म-सम्बन्धी अधिकांश ग्रन्थों की रचना मणिप्रवाल शैली में हुई है। फलस्वरूप "नालायिर प्रवन्धम्" जैसे तमिल ग्रन्थों की टीकाएँ मणिप्रवाल शैली में लिखी गईं। जैसे संस्कृत को मृत भाषा कहा जाता है इसी प्रकार यह शैली भी मृत हो चुकी है। संस्कृत के ज्ञाता तमिल न जानने के कारण इन ग्रन्थों को छूते तक नहीं हैं। दोनों भाषाएँ जानने वाले बहुत कम हैं। उनमें भी वैष्णव मतानुयायी तो उन व्याख्याओं को पढ़कर पूरा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इस शैली का लोप-सा हो गया।

आज देश की जनता ने नाना भाषाओं को मिलाकर "नवरत्न-शैली" को जन्म दिया है। इस प्रकार की शैली का प्रयोग उपन्यासों में भी होने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी, अँग्रेजी तमिल आदि भाषाओं के शब्दों से युक्त यह नवरत्न शैली किसी भी भाषा को विकसित न होने देगी।

डा० ममवत स्वरूप मिश्र

साहित्य पर बाह्य प्रभाव की अनिवार्यता को मानकर चलना पड़ता है, यह तो निर्विवाद है। प्राणी का स्वरूप ही बाह्य और आभ्यन्तर का समन्वय है। एक आभ्यन्तर तत्त्व है जिसे हम, आत्मा, चेतन या 'स्व' किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। यह 'स्व' निरन्तर अपने से बाहर के स्वेतर जड़ जगत् को आत्म-सात् करके 'स्व' का अंश बना रहा है। यही जीवन है और यही जीवन-यात्रा है। बीज अंकुर के रूप में फूटकर क्रमशः वृक्ष बनता है—यह प्रक्रिया केवल 'स्व' का विकास है, पर है वास्तव में बीज से बाहर की खाद, पानी, मिट्टी आदि को 'स्व' के रूप में परिणत करने की प्रक्रिया ही से इस 'स्व' और 'स्वेतर' का मिलन; उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया ही जीवन है; पर इस प्रक्रिया के मूल में वास्तविक मूल रहस्य क्या है? प्रयोजन क्या है? केवल 'स्व' का विकास, स्वेतर को 'स्व' के अनुकूल बनाकर ग्रहण करना। खाद, पानी, मिट्टी प्रायः समान ही होते हैं, पर आम का बीज उनको आम के रूप में तथा जामुन का बीज उनको जामुन के रूप में परिणत करता है, पर अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए और विकसित करते हुए ही। अगर खाद इनमें से किसी बीज को ही गला दे तो क्या खाद फल बन जाएगा? बीज के बिना इन बाह्य उपकरणों का महत्त्व भी क्या है? बाह्य का महत्त्व तो 'स्व' पर आधारित है, इसलिए स्वेतर को ग्रहण करने से अधिक महत्त्वपूर्ण 'स्व' की रक्षा है। स्वेतर को 'स्व' के विकास के लिए ग्रहण करना है न कि उसकी उपेक्षा, विनाश के लिए।

बाह्य प्रभाव अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं हैं, वे तो साधन हैं, साध्य तो 'स्व' का विकास है, इसलिए भारतीय साहित्य और संस्कृति के समक्ष बाह्य प्रभाव ग्रहण करने की स्वच्छन्दता, जागरूकता और उदारता के मिथ्या अहंकार को वहन करने की अपेक्षा 'स्व' के संरक्षण और विकास का प्रश्न अधिक महत्त्व-पूर्ण है। यह माना कि बीज का विकास खाद-पानी के बिना नहीं होता। 'स्व' के विकास के लिए स्वेतर की आवश्यकता है, 'स्व' बाह्य को अपने में आत्म-सात् करके ही विकसित होता है। यह उसका स्वभाव भी है और इस सहज क्रिया में उसके स्वरूप की स्थिति भी है, पर इस बाह्य ग्रहण में 'स्व' का ही बलिदान हो गया तो विकास किसका होगा ? अतः आज प्रश्न बाह्य प्रभाव को ग्रहण करने के सिद्धान्त को स्वीकारने का नहीं है, उस ग्रहण के प्रकार और मात्रा को निश्चित करने का है जिससे 'स्व' विकसित हो सके, कहीं दब कर नष्ट नहीं हो जाय। आज भारत के मनीषियों को यह देखना है कि कहीं यह बाह्य प्रभाव उलटे भारत के 'स्व' को निगल तो नहीं रहा है। कबीर के शब्द में 'बाड़ खेत को खाया' वाली उक्ति तो चरितार्थ नहीं हो रही है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आज भारत बाहर से ग्रहण करने की उदारता के अहंकार में अपने 'स्व' को खोने का खतरा मोल लेने की सीमा पर पहुँच रहा है। यह आशंका जीवन के सभी क्षेत्रों में बहुत तेजी से बढ़ रही है, पर साहित्य में तो शायद इसकी गति बहुत तीव्र है। साहित्य जीवन का अगुआ भी होता है इसीलिए शायद वह इस क्षेत्र में भी आगे चल रहा है। बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने की आज के हिन्दी साहित्य में बेहोशी-सी छाई हुई है, मद-सा छा गया है, जिससे 'स्व' के खो जाने की आशंका जिस उन्मुक्त भाव से आज हिन्दी साहित्य बाहर से ग्रहण कर रहा है उससे इस आशंका का उठना स्वाभाविक ही है। आज का साहित्य इस बेहोशी में हमारी संस्कृति और जीवन को भी ले जाना चाहता है, ऐसी कुछ लोगों की शंका निर्मूल नहीं है। हमारे आदरणीय 'अनिल' जी के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकता हूँ कि यह बाह्य-प्रभाव 'स्व' का पराभव होता जा रहा है।

स्थिति कुछ ऐसी होती जा रही है कि हम अपने पुरातन मूल्यों पर 'जीवन के चिरन्तन आदर्शों' पर एक बहुत बड़ा प्रश्नसूचक चिह्न लगाने जा रहे हैं। मैं तो समझता हूँ प्रश्न सूचक चिह्न क्या, कहीं एक पूर्ण विराम लगाकर इस अध्याय को ही समाप्त न कर बैठें और 'स्व' का स्थान यह बाह्य प्रभाव ले बैठे। आशंका इस मारवाड़ी कहावत में साकार हो रही है 'आई ही छार

लैणनें और हो बैठी घर घिरियाणी' । आज हम हर क्षेत्र में विदेशों के मुखापेक्षी होते जा रहे हैं, हमारे पास अपना क्या है, इसको ढूंढ़ने की अपेक्षा हम इसके लिए अधिक आतुर हैं कि हमें बाहर से क्या मिल सकता है ? रूस क्या दे सकता है, अमेरिका क्या दे सकता है. हमें इसकी चिन्ता अधिक है । यह चिन्ता कम है कि हम अपनी चीजों को नई परिस्थितियों के अनुकूल कैसे बनावें, उनमें नई शक्ति कैसे भर दें, उनको नया मूल्य कैसे दें ? हमारा आदर्श तो यह था कि 'यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः पर प्रतीत यह होता है कि आज का भारत इससे ठीक उल्टी दिशा में प्रगति कर रहा है ।

रस-ध्वनि आदि की नई व्याख्या करना, उनके सार्वभौम सिद्धान्त बन जाने की क्षमता को पहचानने के प्रयास की अपेक्षा बाह्य प्रभाव के या पराभव के फलस्वरूप हम उनके निषेध करने में अधिक सजग हैं और बहुत कुछ उन्हें बिना समझे ही, बल्कि उन्हें समझने की आशंका को भी प्रतिक्रियावादी मान कर । आज की कविता को, आज के साहित्य को रस-ध्वनि आदि के दृष्टिकोणों से नहीं आँका जा सकता है, उसको समझने के लिए हमें इलियट और रिचर्ड्स के पास जाना चाहिए–इसका उद्घोष ही हिन्दी साहित्य क्षेत्र में अधिक सुनाई पड़ता है । उनके सिद्धान्तों को समझकर, पचाकर अपने 'स्व' के अनुकूल बनाकर अपनाने की सजग प्रेरणा हम कहाँ दे पा रहे हैं । शायद हमें अपने 'स्व' का भान ही बहुत कम होता है । इस 'स्व' की किसी दूसरे को याद दिलानी पड़ती है । अभिनव गुप्त, आनन्दवर्द्धन आदि ने जो कुछ कहा है उसे पूर्णतया समझकर, उसमें अपने 'स्व' को पहिचान कर चलने की अपेक्षा आज के साहित्यकार को यह चिन्ता अधिक सता रही है कि पश्चिम का चिन्तक क्या कहता है । वह इसमें बेचैन है कि मार्क्सवादी क्या कहता है, अस्तित्ववादी क्या कहता है, लघुमानव-वाद क्या है, Rhythm of Meaning क्या है—इन सिद्धान्तों को अपनी कसौटी पर कसकर उनका भारतीयकरण करके ग्रहण करने की अपेक्षा उनको ज्यों का त्यों अपना लेने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। विदेश के साँचे में भारत के साहित्य और जन-जीवन को फिट करने के प्रयास अधिक हैं, पूरा फिट न होने से इधर उधर से काट देने की हिचक भी अधिक नहीं है । क्या यह बाह्य के समक्ष अपने 'स्व' का समर्पण नहीं है ? इसे प्रभाव ग्रहण की अपेक्षा पराभवस्वीकृति अधिक कहना चाहिए । इतने दिनों बाद भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, विदेशी घर से बाहर निकला है, घर पर घर वाले का अधिकार हुआ है, होना तो यह चाहिए था कि उस विदेशी के निकलते ही

हम अपने घर को सँभालते, उसका लेखा-जोखा लेने, अपनी निधि सँभालते सँवारते, संस्कृति साहित्य आदि में हम ऐसे दरिद्र तो नहीं थे। अब तो हमारे पास जवाहिरात हैं, कुछ अभाव भी हैं पर पहले उनको ठीक समझ लेते, पर हुआ वह कि हम में बाहर जाने का उतावलापन छा गया है, हमने अपनी बहु-मूल्य वस्तुओं की उपेक्षा की है। अपने को शून्य समझा है और विदेशी के साथ ही विदेश को निकल गए; वहीं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं को बटोर कर लाना चाहते हैं। विदेशी वातावरण, विदेशी कथानक, विदेशी चरित्र चित्रण और विदेशी जीवन-मूल्यों की कहानियों से भारत का मनोरंजन करना चाहते हैं, उसका पथ प्रदर्शन करना चाहते हैं, पर सचमुच आज का साहित्य यह कार्य कितना कर पाता है उससे कितनों का मनोरंजन हो पाता है, जन-जीवन के कितने भाग को दिशा मिल पाती है, क्या यह जन-जीवन में व्यापक कम्पन उठा पाया है, या थोड़े से छिछले पानी में हिलोरें उठाकर ही सागरव्यापी तरंगों के काल्पनिक अहं का वहन कर रहा है। देश को पता नहीं क्या हो गया है, धुरंधरों को विदेश का मुँह ताकने की आदत पड़ती जा रही है। आज तो देश अपनी भूख को विदेश के अन्न से मिटाना चाहता है पर क्या विदेश का अन्न 'स्व' की भूख को मिटा पाता है. वह तो भूख के भुलावे का साधन है। अपने उत्तरदायित्वों को, अपने 'स्व' की इतनी उपेक्षा और बाह्य प्रभाव के लिए इतनी बुद्धिहीन आतुरता को देखकर मुझे राजस्थानी की एक पंक्ति याद आती है 'पाड़ोसन से बाताँ लागी चून गँडकड़ा खाइ'। कहीं पड़ौसी की अत्यधिक चिन्ता ऐसी ही तो सकर नहीं हो रही है। साहित्य के सृजन और भावना दोनों ही क्षेत्रों में पड़ते हुए इस बाह्य प्रभाव का सजग होकर निरीक्षण करने का अवसर आ गया है। उस बाह्य से, उस स्वेतर से अपने अन्तर को, अपने 'स्व' को पुष्ट करने के लिए ही उसका त्याग, ग्रहण और उपेक्षा ही नहीं एक प्रबल प्रतिक्रिया की भी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

साहित्यकार संवेदनशील प्राणी है। संवेदनशील व्यक्ति बहुत जल्दी प्रभा-वित होता है; पर साहित्यकार, कम से कम आज का साहित्यकार, निरा भावुक या मात्र संवेदनशील नहीं है, वह तो बुद्धि का पूरा अवलम्बन करके चलता है, वह निरी भावुकता और संवेदनशीलता में बह जाने वाला तो नहीं है, कम से कम बुद्धि का दम भरने वाले को ऐसा होना तो नहीं चाहिए। इस प्रकार बाह्य प्रभाव में बह जाने वाला साहित्यकार तो सम्पूर्ण जन-जीवन तरंगायित करने

वाले, मार्ग-प्रदर्शन करने वाले साहित्य का सृजन नहीं कर पाता। तरंगें 'स्व' को छूने से उठती हैं, बाह्य प्रभाव को थोपने से नहीं और जन-जीवन के 'स्व' को साहित्यकार का 'स्व' ही छू पाता है, बिना पचाया हुआ बाह्य प्रभाव नहीं। साहित्यकार में सम्पूर्ण जाति, देश और संस्कृति का 'स्व' निहित रहता है। वह अपने 'स्व' मे सम्पूर्ण संस्कृति के 'स्व' को आत्मसात् किए रहता है, उसके इस 'स्व' के द्वारा बाह्य का ग्रहण तो सम्पूर्ण जाति और संस्कृति के 'स्व' के द्वारा ग्रहण होना चाहिए। स्वेतर के ग्रहण का या बाह्य के प्रभाव का यही मान-दण्ड है अन्यथा तो वह ग्रहण नहीं है। "बाह्य" के समक्ष 'स्व' का समर्पण है, पराभव है। प्रश्न यह है, आज जो हिन्दी का साहित्यकार उन्मुक्त भाव से बाहर से ग्रहण कर रहा है उसे सम्पूर्ण देश का 'स्व' कितना अपना पाया है, उसमें से कितना अंश 'स्व' के विकास का साधन बन पाएगा। साहित्यकार जितने अंश में अपने 'स्व' को संस्कृति के 'स्व' के अनुकूल या उसका अंश बना पाता है उसी अंश के द्वारा ही गृहीत बाह्य प्रभाव जनजीवन के लिए पुष्टिकारक हो पाते हैं। कवि के शेष व्यक्तित्व से गृहीत अंश तो केवल अध्यारोप मात्र है और उसका अपवाद अपेक्षित है। कवि को अपने चारों ओर की परिस्थितियों में उस अभाव का सहज भान होना चाहिए जिसकी पूर्ति के लिए उसमें स्वेतर से या बाह्य से कुछ लेने के लिए विवशता जागी, अगर इस विवशता के बिना ही अपनी सांस्कृतिक पूंजी के अज्ञान पर आश्रित 'स्व' की विवशता से वह ग्रहण कर रहा है तो यह बाह्य का ग्रहण निरा अनुकरण मात्र होगा। इसका अपने 'स्व' को ढक लेने अथवा दिग्भ्रम करने के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं है। यह बाह्य ग्रहण के लिए बाह्य ग्रहण है 'स्व' की तो इसमें चेतना ही नहीं है। प्रश्न यह है कि कहीं आज का हिन्दी का साहित्यकार इस अनुकर्त्ता की स्थिति को तो नहीं पहुँच रहा है। संस्कृतियाँ दूसरी संस्कृतियों से ग्रहण करती हैं पर सजग और सबल संस्कृति बुद्धिपूर्वक आँख खोलकर ग्रहण करती है। देश का चिन्तक ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को पहले परख लेता है, बाह्य प्रभाव को पहले हमारे चिन्तन का विषय बनना चाहिए, वह हमारी नीर-क्षीर विवेक की शक्ति के द्वारा परखा जाना चाहिए। उसके बाद ही उसका हमारे भावजगत् में, हमारी निष्ठा के प्रदेश में प्रवेश श्रेयस्कर है; तभी वह स्वेतर से प्राप्त वस्तु 'स्व' का विकास करती है अन्यथा बीमारी के कीटाणुओं की तरह से Foreign Matter बनी रह कर सड़ाँध और गलन पैदा करती है। माना कि कवि को प्रातिभ-तत्त्व बोध होता है, उसे बुद्धि लम्बी प्रक्रिया में जाकर वस्तुओं के श्रेयस् रूप का निर्णय नहीं करना पड़ता। उसको श्रेय का प्रेय रूप में साक्षात्कार होता है, पर यह

उसी को जिसका 'स्व' पूर्णतया परिमार्जित है, अपनी संस्कृति के 'स्व' के साथ व्याप्त मानवता के साथ तादात्म्य स्थापित कर गया है, अन्यथा नहीं। इसलिए आज प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार इन बाह्य वस्तुओं को ऊपर प्रतिपादित निष्ठा का विषय बनाकर ग्रहण कर रहा है या नवीनता की निरी भावुकता में बहकर ही ? इसके लिए देश के मनीषियों को सजग रहना है। आज का साहित्यकार देश का वास्तविक सांस्कृतिक प्रतिनिधि होकर या नवीनता की चमक से आकृष्ट होकर या अपनी वैयक्तिक विचित्र अभिरुचि से विवश होकर बाह्य प्रभाव को ग्रहण कर रहा है, इसका निर्णय आज की प्रमुख समस्या है। अतः बाह्य प्रभाव को ग्रहण करने के सिद्धान्त को मुक्त भाव से स्वीकार करते हुए भी उसके ग्रहण करने के प्रकार और मात्रा पर पूर्णतया सजग होकर नियंत्रण रखने की आवश्यकता आज बलवती होती जा रही है।

★

डा० आर्येन्द्र शर्मा

संस्कृत को प्रायः समझा जाता है कि बड़ी शुद्ध भाषा है, कोई इधर-उधर का मिश्रण नहीं है और इसको हम प्राचीन भाषा समझते हैं। लेकिन स्वयं संस्कृत में कितनी भाषाओं के शब्द आकर मिल गए हैं और संस्कृत के साहित्य में इन शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। आप में से जो भाषाविज्ञान के विद्यार्थी हैं वे जानते होंगे तथ्यों को और शायद कुछ लोग, जिन्होंने भाषाविज्ञान नहीं पढ़ा होगा, वे नहीं जानते कि संस्कृत में ईरानी भाषा से शब्द लिए हुए हैं, संस्कृत में ग्रीक भाषा से शब्द लिए हुए हैं, लेटिन भाषा के कुछ शब्द हैं, इण्डोनेशियाई भाषा के कुछ शब्द हैं और जो भारतीय भाषाएँ हैं, द्रविड़ परिवार की या मुण्डा परिवार की उन भाषाओं के शब्द हैं ही। दो-चार उदाहरण मैं आपके सामने रखता हूँ कि संस्कृत में दूसरी भाषाओं के शब्द कैसे-कैसे आए हुए हैं। संस्कृत में ईरानी भाषा का 'चषक' शब्द है जिसका प्रयोग हिन्दी में बराबर होता है, यह हारमोनिया की भाषा का शब्द है जो एक ईरानी भाषा है। 'शत्रप' शब्द आप लोगों ने इतिहास में पढ़ा होगा, ईरानी भाषा का शब्द है, और स्वयं ईरानी भाषा में ग्रीक भाषा से आया है। संस्कृत का 'लिपि' शब्द है, वह भी ईरानी भाषा का है। ईरानी भाषा में इसका रूप 'दिपि' था और 'दिपि' से संस्कृत में 'लिपि' हो गया।

ग्रीक भाषा के कुछ शब्द लीजिए—संस्कृत में शब्द है 'उष्ट्र', जिसका हिन्दी रूपांतर 'ऊँट' है। दूसरा शब्द है 'कनेरक' वह ग्रीक शब्द के 'केनेरोस' शब्द का रूप

है। संस्कृत शब्द है, खलिन, जो खलिवोस शब्द से संस्कृत में आ गया। संस्कृत की ज्योतिष टीकाओं में कुछ शब्द लिखे हैं जैसे 'जामित्र' एक शब्द है जिसका कालीदास ने प्रयोग किया है, वह ग्रीक भाषा के द्यामेतरोस् का ही रूपांतर है। संस्कृति में सिक्के का नाम 'दीनार' पौराणिक पुस्तकों में आता है, वह लैटिन के दीनारियोस शब्द का रूपांतर है। संस्कृत का बड़ा सुन्दर शब्द है 'लवंग', वह संस्कृत भाषा का अपना नहीं है। वह इण्डोनेशिया की भाषा का है जिसका आज भी उस भाषा में इसी रूप में प्रयोग होता है।

द्रविड़ भाषाओं से और मुण्डा परिवार की भाषाओं से जो शब्द आए हैं उनमें से कितने शब्द बड़े सुन्दर हैं जो संस्कृत के साहित्य में और हिन्दी के साहित्य में प्रयुक्त होते रहते हैं। इनमें कुछ शब्द लीजिए—मीन, चीवर, चीर, नीर, कुटीर, अलस, कजल, कटु, कानन, कुंडल, मुकुल; किन्तु ये सब संस्कृत के अपने शब्द नहीं हैं। पंडित शब्द भी संस्कृत का अपना नहीं है, दूसरी किसी द्रविड़ भाषा का है। आप देखेंगे कि कितने शब्द हैं, जो साहित्यिक भाषा में, न केवल संस्कृत में, बल्कि हिन्दी में बराबर प्रयुक्त हुए हैं और जो शब्द संस्कृत ने दूसरी भाषाओं से अपनाए हैं। ऐसे ही मुण्डा परिवार की भाषाओं के शब्द हैं—शृंखला, मेखला, सम्वत्, कदली, ताम्बूल—ये सब शब्द संस्कृत के अपने नहीं हैं। संस्कृत में इन शब्दों के अतिरिक्त और भी बहुत से ऊपर के शब्द हैं।

शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत की भाषा की रचना में व्याकरण में भी दूसरी भाषाओं के प्रभाव से परिवर्तन हुए हैं। संस्कृत में पहले कहते थे "सः अकरोत्" उसके बाद किन्हीं भाषाओं के प्रभाव से "तेन कृतम्" शब्द आ गए। संस्कृत में जो बड़े-बड़े समासों का प्रयोग होने लगा, उनके विषय में भी विद्वानों का विचार है कि वह भी किसी दूसरी भाषा का प्रभाव है।

जब हम हिन्दी में आते हैं तो कहना नहीं होगा कि फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रभाव हिन्दी में बहुत है। इसके बारे में एक बात कहना चाहूँगा कि तीन तरह के शब्द, अरबी और फारसी के हिन्दी में तीन तरह से प्रयोग में आए हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं जो पहले के युग में ही व्यवहार में प्रयुक्त होते थे और हिन्दी साहित्य ने इन्हें जहाँ-तहाँ अपना लिया है। इनको नए शब्द या अरबी और फ़ारसी के इसलिए कहते हैं कि संस्कृत के साहित्य में इनका वर्णन नहीं है। जैसे पतंग, जिसको उड़ाया जाता है, और गुलाब। अब इनमें बहुत शब्द आपको याद होगा कहाँ प्रयोग होते हैं। कबूतर, बाज़, तमाखू, सवार—यह सब सतसई

कवियों ने लिए हैं । कुछ शब्द साहित्यिक हैं, जो कि बहुत कम हैं, वे भी हिन्दी साहित्य में जहाँ-तहाँ आ गए हैं, जैसे शबनम, जानी, सानी, पेशानी, लेकिन अधिकांश शब्द ऐसे हैं जो उस युग में अरबी या फारसी से अनुप्रास के लिए अथवा यमक के लिए अथवा तुक प्रकरणी के लिए हिन्दी साहित्य में लिए गए हैं। क्योंकि ये जन-भाषाओं में प्रचलित थे, ये शब्द कवियों ने ले लिए हैं । यद्यपि वे शब्द हिन्दी भाषा में मौजूद थे और पर्याप्त वाची शब्दों को लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी इस तरह के शब्द ले लिए हैं । इसका एक दो उदाहरण देता हूँ । भूषण का एक पद है—

"भूषण भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं
किम्मत यहाँ लगि है जाकी घट छोट में"

तो सिर्फ 'हिम्मत' और 'किम्मत' इन दोनों को यहाँ एक तरह से अनुप्रास या यमक कह लीजिए, उसमें बैठाने के लिए इन दो शब्दों का प्रयोग किया है ग्वाल कवि बड़े शौकीन थे यमक और अनुप्रास के । तो ग्वाल की दो लाइनें हैं—

"निमकहराम बदकाम करें ताजे ताजे
'बाजे बाजे देसहु गुरू के न पीर के"

'ताजे ताजे' 'बाजे बाजे' और 'नमकहराम बदकाम' इसमें अनुप्रास लाने के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है और कोई इसका प्रयोजन नहीं है । पद्मावत में बहुत से ऐसे छन्द प्रसिद्ध हैं । तो मैं कहना यह चाहता था कि इस युग में बाहर की भाषाओं का प्रभाव जो भाषा की हद तक साहित्य पर पड़ा था, बहुत ही कम था । तुलसीदास ने प्रयोग किया है फ़ारसी, अरबी शब्दों का, सूरदास ने भी, मीरा ने भी, सब कवियों ने किया है, लेकिन उनका कोई प्रभाव ऐसा गहरा नहीं पड़ा । इन लोगों ने केवल अपनी कविता में छन्द पूर्ति के लिए आवश्यक शब्दों को लिया है या जैसा मैंने अभी बताया, अनुप्रास और यमक आदि लाने के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है । इसके कारण ही इन शब्दों का प्रभाव इतना गहरा हिन्दी साहित्य पर नहीं है । कारण स्पष्ट है कि संस्कृत के काव्य की परम्परा हिन्दी में तब तक अक्षुण्ण थी । और किसी चीज के लिए इन साहित्यों का मुँह तकने की हिन्दी को अपेक्षा नहीं थी । लेकिन आधुनिक काव्य में विदेशी भाषा और साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर इतना गहरा है कि हम लोग आज इसको आसानी से समझ भी नहीं पाते कि कितना गहरा है और यह प्रभाव कोई इतना नया नहीं है जितना समझा जाता है । इसका आरम्भ

से ही यह प्रभाव हिन्दी के नए साहित्य पर, खड़ी बोली के साहित्य पर पड़ता रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द ने एक गोष्ठी की स्थापना की थी जिसका नाम अँग्रेजी में रखा था 'हिन्दी रीडिंग क्लब'। उन्होंने जो पत्रिका निकाली थी उसका नाम 'हरिश्चन्द मैगजीन' रखा था। तो इस तरह का प्रभाव पहले से चल रहा है। भारतेन्दु युग में अँग्रेजी से हिन्दी में, खड़ी बोली में अनुवाद हुए थे, यह आपको शायद मालूम होगा – 'प्रजाग्राम', 'एकांतवासी योगी'—इस तरह के अनुवादों से अँग्रेज़ी का प्रभाव हिन्दी में पड़ता चला आ रहा है।

अँग्रेजी-मिश्रित हिन्दी को आज हम बुरा समझते हैं और कहते हैं कि यह अवांछनीय है हिन्दी में। अँग्रेजी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग भी उस युग में हुआ था—जैसे सरस्वती का उद्धरण मैंने किसी किताब से लिया है "हमारी नस-नस में अरिस्टोक्रेसी भरी है" और कोष्ठन में उसका अर्थ दिया है महापुरुषता। "अरिस्टोक्रैसी" का यह प्रयोग सरस्वती के १९०७ के अंक में है। "वे बहुत जल्दी मोटिव एट्रीब्यूट करते हैं (उद्देश्यांतर चिपकाते हैं)", यह भी १९०३ की किसी पत्रिका का उद्धरण है। इस युग में भी अँग्रेजो के शब्द प्रचलित हो गए थे—नोटिस, कांग्रेस, पार्क, फीस, टैक्स, टिकट इत्यादि। कुछ नए शब्द हैं जो कि अँग्रेजी का अनुवाद हैं और जिनको आज हम समझ ही नहीं सकते कि अँग्रेजी का अनुवाद है, जनता, समाज, प्रदर्शनी, सुधारक, वायु-परिवर्तन, सम्पादक, प्रकाशन, मुद्रण आदि। इन शब्दों को आज हम समझते हैं कि बिल्कुल हमारी अपनी सम्पत्ति है। मगर संस्कृत में इन शब्दों का वह अर्थ नहीं था जो कि हम आज मान रहे हैं। हिन्दी भाषा के व्याकरण पर, भाषा की रचना पर भी अँग्रेज़ी का असर पड़ा है। 'इनडाइरेक्ट स्पीच' जिसको अँग्रेज़ी में कहते हैं, वह हिन्दी में, मैं समझता हूँ, बाइबिल का प्रभाव होगा। 'रामदास ने कहा कि उसकी किताब खो गई थी,' यह हिन्दी की परम्परा के अनुकूल नहीं है। 'कि' कहिए या मत कहिए, रामदास की उक्ति 'मेरी किताब खो गई है' वही है। इसी तरह से गर्भित वाक्य जिनको कह सकते हैं, वह भी अँग्रेजी का ही प्रभाव है। 'वह आदमी जो कल आया था आज चला गया।' असल में होना चाहिए – संस्कृत की परम्परा से और हिन्दी की अपनी परम्परा के हिसाब से कि 'वह आदमी आज चला गया जो कल आया था'। 'जो कल आया था' को बीच में डालने का प्रभाव अँग्रेजी का है। इसी तरह के कई दूसरे वाक्यों का भी हिन्दी में प्रयोग होता है "जैसे अधिकारियों और व्यापारियों ने मिलकर (षडयंत्र रचकर कहना अधिक ठीक होगा) यह स्थिति पैदा कर दी है"। यह हिन्दी की परम्परा बिलकुल नहीं है। संस्कृत में इस तरह की चीज कभी

नहीं आई। यह सीधा अँग्रेजी का प्रभाव है। पैराग्राफ को हिन्दी में "वर्ग" कहने लगे हैं, आपको मालूम होगा कि यह महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शुरू किया था और यह अँग्रेजी का प्रभाव ही है।

उस युग में भी खड़ी बोली के रूप में अजीब-अजीब अनुवाद किए गए थे। जैसे अँग्रेजी के 'इन्ट्रेस्ट' शब्द का अनुवाद किया गया था—'स्वार्थ'। भारत के बड़े-बड़े स्वार्थ इसमें काम कर रहे हैं। हिन्दी में तो यह 'स्वार्थ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ था। इसी युग में नए साहित्यिक शब्द भी आए गए थे। निबंध, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-सुन्दरी, समालोचना, पृष्ठभूमि, एकांकी, गद्यगीत, कला, शैली, ये शब्द आज इतने बहु-प्रयुक्त शब्द हैं कि इनको आज समझते नहीं कि ये विदेशी हो सकते हैं। मगर वास्तव में ये विदेशी शब्दों का अनुवाद है। संस्कृत के हिसाब से इनमें से कोई शब्द वह अर्थ नहीं दे सकता जिस अर्थ में हम उनको आज मानते हैं। "सत्यं शिवं सुन्दरम्" हमारी बहुत प्रसिद्ध उक्ति है, पर वह भी अँग्रेजी का अनुवाद है कोई उपनिषद् का वाक्य नहीं। "कला कला के लिए" भी प्रसिद्ध उक्ति है, वह भी अँग्रेजी का अनुवाद है। तो हिन्दी के ऊपर ये सब प्रभाव इतने गहरे हो गए हैं कि आज हमको यह समझना कठिन हो गया है कि ये शब्द हमारे अपने नहीं हैं। उसके बाद छायावादी कविता की शब्दावली है जिस पर अंग्रेजी और बंगला काव्य का प्रभाव है, जैसे सुप्त-व्यथा, सरतागान, गीत-तारा इत्यादि हमारे छायावादी कवियों ने प्रयुक्त किए हैं। नया प्रतीक इन लोगों ने प्रयुक्त किया है, उस पर अँग्रेजी का प्रभाव मानना चाहिए। जैसे फूल और शूल, मधु, सरिता, स्वर्णिम और रजत, और नई सामाजिक परिस्थितियाँ और मनोविज्ञान आदि से सम्बन्धित चीजें भी हम छायावाद के कवियों और उसके बाद के कवियों में पाते हैं। पंत जी की एक लाइन है—'पोषण जाति विद्वेष वर्गगत अर्ध समर्थ'। 'जाति विद्वेष' अपने देश की चीज नहीं है, 'वर्गगत'—यह भी नया शब्द है, अर्थ समर्थ या खूनी लड़ाई या अँग्रेजी में कह लीजिए पैनीटेंट। तो ये सब अनुवाद ही जैसी चीजें हैं। पंत जी की एक और लाइन है—

'उपचेतन मान पर विजय पा सके चेतन मन'

'उप-चेतन' और 'चेतन' के विभाग की हमारे यहाँ परम्परा नहीं है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो कि साहित्यिक न होकर हमारी अपनी भाषा में ऐसे मिल गए हैं जिनको हम अच्छी तरह से पहचान भी नहीं सकते। एक मुहावरा है, 'आधे से अधिक' उसकी कोई परम्परा संस्कृत में नहीं है या 'शतप्रतिशत' अँग्रेजी के हंडरेड परसेंट का प्रभाव है; सेंटपरसेंट गलत है अँग्रेजी में कहना,

'हंडरेट परसेंट' ही ठीक है। 'शतप्रतिशत' हिन्दी में वही चीज आ गई। संस्कृत के 'वातावरण' में वह अर्थ बिल्कुल नहीं है जैसा अँग्रेजी में प्रयोग होता है, संस्कृत में 'वातावरण' शुद्ध वायु के आवरण के लिए लिया जाता है।

योगदान (कंट्रीब्यूशन) के लिए संस्कृत में योग का अर्थ दूसरा ही होता है। शोषण, शोषित, तथाकथित (सो कॉल्ड), बौद्धिकस्तर, निकटतम प्रतिद्वंदी, ये शब्द बिल्कुल अंग्रेजी का अनुवाद हैं लेकिन हमारे बिल्कुल अपने हो चुके हैं।

जब से हिन्दी को राजभाषा या राष्ट्रभाषा बनाने की बात चली है कुछ पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में अभी हाल में समस्याएँ खड़ी हुई हैं। उनकी समस्याओं के संबंध में मैं यहाँ ज्यादा चर्चा नहीं करूँगा. बहुत सी समस्याएँ इसमें हैं। अनुवाद किए गए शब्दों का अर्थ अब कुछ ठीक होने लगा है लेकिन अनुवाद जिन अँग्रेजी शब्दों का किया गया है उनमें से बहुत से हास्यास्पद अनुवाद हो जाते हैं। एक-आध उदाहरण मैं आपको देता हूँ। हैदराबाद में मैंने देखा अँग्रेजी स्कूल था 'गर्ल्स वोकेशनल हाई स्कूल' तो जब हिन्दी की लहर चल रही थी तब लोगों ने कहा कि इसका हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। उसका ऐसा भद्दा अनुवाद किया गया हिन्दी में, क्योंकि वे नहीं समझते थे कि कैसा अर्थ हिन्दी में लगेगा, तो उसका हिन्दी में बना 'बालिका व्यवसाय विद्यालय'। मैंने सेक्रेटरी से कहा कि यह क्या है तब उसको बदला गया। उसी हैदराबाद में एक अस्पताल था, गवर्नमेंट फीवर हॉस्पिटल बाद में उसका हिन्दी में अनुवाद किया गया। तेलुगु में गवर्नमेंट को 'प्रभुत्व' कहते हैं, उसको आप शासन कह लीजिए। तो उन्होंने उसका सीधा-सादा अनुवाद कर दिया 'प्रभुत्व ज्वर चिकित्सालय'। लोग मज़ाक करते थे कि उसमें सब मिनिस्टरस् को भेजना चाहिए। ऐसा मत समझिए कि वहीं ऐसा हुआ है। यह अपने यहाँ भी होता है। सन् ५०-५१ की बात है। रेल में आपने देखा होगा एक खिड़की बन्द रहती है, खुल नहीं सकती, उसके ऊपर अँग्रेजी में लिखा रहता था 'शटर फिक्स्ड' इसका हिन्दी में अनुवाद करके कहा गया 'खिड़की स्थिर', जैसे पूरी गाड़ी चलती है, लेकिन केवल खिड़की स्थिर रहती है। कुछ समय बाद मैंने देखा उसका अनुवाद 'खिड़की बंद' किया गया। आज सवेरे जब आगरा फोर्ट स्टेशन पर उतरा तो वहाँ 'कम्पलैन्ट्स एण्ड सजेशन्स' का हिन्दी में अनुवाद 'सुझाव और परिवाद' किया गया है। 'कम्पलैन्ट्स्' के लिए 'परिवाद' शब्द कैसे प्रयोग किया गया, यह मेरी समझ में अभी तक नहीं आया। इस तरह की गड़बड़ी चल रही हैं।

मैं समझता हूँ कि पिछले पाँच या दस वर्षों में आलोचना के क्षेत्र में सबसे अधिक शब्द हमने अँग्रेजी से लिए हैं और कितने शब्द वास्तव में ठीक हैं, कितने नहीं है, इसका विचार करने का यहाँ समय नहीं है। ऐसा लगता है कई बार कि जिन लोगों ने शब्दों का प्रचलन किया है, वे लोग संस्कृत से ठीक तरह से परिचित नहीं हैं, संस्कृत में इसका क्या अर्थ है, किस अर्थ में हम इसका प्रयोग कर रहे हैं और कभी-कभी इतना कष्ट होता है कि जिस शब्द का वे अनुवाद अँग्रेजी से हिन्दी में करने जा रहे हैं, उसकी अँग्रेजी ही बराबर नहीं समझते हैं और उल्टा-सीधा अनुवाद कोई न कोई कर देता है और वे चल पड़ते हैं। खैर, चल पड़ें तो ठीक ही है, भाषा का तो चल पड़ना ही उसकी शुद्धता का लक्षण है। लेकिन उसके पीछे कुछ न कुछ सिद्धान्त बाँधने की जरूरत है जिसको अँग्रेजी में "ड्राइंग रूम मिक्सचर" कहते हैं उसको 'गोष्ठी साहित्य' हिन्दी में कहा जाता है। परिप्रेक्ष्य (पर्सपैक्टिव), परिवेश, (इस शब्द का प्रयोग शायद पहले मैंने ही एक बार "कल्पना" में किया था यह बहुत चल पड़ा है) कुंठा, अहम, स्वत्व, श्रोतक— इस तरह के उदाहरण आपको पचासों मिल जाएँगे जिनको आप समझेंगे कि यह संक्रांति या संक्रमण-परिवर्तन क्षेत्र में हैं यानि भाषा में स्थिर नहीं हुए हैं चल रहे हैं। आज ही सवेरे मैंने समाचार पत्र में देखा "चावल की छः आधुनिक मिलें खुलेंगी"। 'मिलें,' 'आधुनिक' क्या मतलब है ?मैंने कहा, मशीनरी आधुनिक होंगी या मिलें आधुनिक होंगी। 'भारत की अन्तर्राष्ट्रीय ताकत'–यह सब हिन्दी में बहुत भद्दा लगता है। 'उसके कब्जे से सोने की छड़ बरामद की गई'-'कब्जे से'। इस तरह की बात हिन्दी विज्ञापनों में चल रही है। मैंने श्री बालकृष्णराव के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिका "माध्यम" में देखा, 'ज्ञानोदय' के लोगों ने उसमें विज्ञापन दिया है। अँग्रेजी मिश्रित हिन्दी के इसमें बड़े अच्छे उदाहरण हैं–"अगले दस वर्षों की विश्वसनीय, 'लीस' पर, ज्ञानोदय का कथानगर या जो कुछ हो, उस कथानगर में १६ सैक्टर हैं, हर कथानगर में 'नेम-प्लेट' लगी है। कुछ नीली रोशनियाँ हैं।" नीली रोशनियों का मतलब सिर्फ हिन्दी वाले नहीं समझ सकते। अँग्रेजी जानते हों तो समझ में आएगा। ये चीजें मुझे बहुत खटकती हैं कि आप अगर अँग्रेजी जानते हों तब आजकल की हिन्दी समझ सकते हैं खास तौर से आलोचना की हिन्दी। हमारी लड़की है, जिसकी पढ़ाई अँग्रेजी में हुई है, उससे कहिए कि हमारे क्लब में सोलह आदमी हैं या सोलह चीजें हैं, तो पूछती है कि पापा सोलह क्या है, उससे कहिए 'सिक्सटीन,' तब उसकी समझ में आता है। तो वैसी ही कुछ बात हो गई है। मैं इसको यह नहीं कहता

कि यह चीज अनुपादेय है या इसको हमें छोड़ देना चाहिए, लेकिन यह जरूर है कि भाषा विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते मुझे ऐसा लगता है कि इसमें समझदारी से काम नहीं लिया जा रहा है। जो चाहे अनुवाद कर लिए जाते हैं।

★

प्रोफ़ेसर एहतिशाम हुसैन

'साहित्य पर बाह्य प्रभाव' इतने भाषण इस पर हो चुके हैं और इतनी अच्छी और जरूरी बातें कही जा चुकी हैं कि अब सिवाय इसके कि मैं थोड़ा-सा उर्दू के सम्बन्ध में कुछ कहकर इस फर्ज को पूरा करूँ इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरा विचार यह था कि जिस समस्या पर हम यहाँ वाद-विवाद करने के लिए बातचीत करने के लिए एकत्रित हुए हैं, उसको हम कम-से-कम दो हिस्सों में विभाजित कर लें तो हमें बड़ी आसानी हो सकती है। पहले के बारे में बहुत-कुछ कहा जा चुका है इसलिए मैं केवल अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए उसके बारे में कुछ ही कहूँगा। वह यह है कि जब मुझे यह शीर्षक मिला और मैंने इसके बारे में सोचना शुरू किया तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि हम इसको दो रूपों में देखें तो हमारी बहुत सी कठिनाइयों का हल बड़ी आसानी के साथ निकल सकता है। एक शक्ल तो यह है कि अगर हम इसको दार्शनिक दृष्टि से देखते हैं तो यह आलोचना की और दर्शनशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन जाती है। वह इस तरह कि जब हम साहित्य-चिन्तन के बारे में सोचते हैं साहित्य रचना के बारे में सोचते हैं, तो हमें असल में इस बात पर ध्यान देने की जरूरत होती है कि किस हद तक पढ़ने वाला और लिखने वाला, कवि और लेखक बाहर की चीजों से प्रभावित हुआ है या हो सकता है। यह चीज ऐसी है कि जिसको हम अन्य प्रकार के उदाहरणों से, दूसरी भाषाओं से, दुनियाँ की भाषाओं के इतिहासों से प्रमाणित कर सकते हैं, कि कोई कहने वाला या लिखने वाला कितनी ही ज्यादा आंतरिक दृष्टि से चीजों को देखता है या अपने अंदर ही से विचारों को

ग्रौर भावों को उत्पन्न करता है, इसके लिए यह ग्रनिवार्य हो जाता है कि वह ग्रपने चारों तरफ जो वातावरण है उससे किसी न किसी रूप में प्रभावित हो। जहाँ तक प्रभावित होने का सम्बन्ध है, मेरा विचार यह है कि इसका न तो किसी ने खंडन किया है ग्रौर न किसी ने कहा है कि ऐसा होना चाहिए तो यह बात ग्रब बहस के लिए नहीं रह गई है। हम यह समझते हैं कि हर साहित्यकार, हर लेखक, हर कवि, हर कलाकार किसी न किसी रूप में बाह्य प्रभाव का शिकार होता है। वह बाह्य प्रभाव किस प्रकार का हो यह उसकी ग्रपनी चेतना के ऊपर बहुत-कुछ निर्भर है। उसकी जैसी चेतना होगी वैसा उसको सोचेगा ग्रौर समझेगा ग्रौर इस तरह की चीजों को लेना चाहेगा ग्रौर ग्रपने साहित्य में, ग्रपनी रचना में, उसी के हिसाब से उस प्रभाव को ग्रहण करेगा। यह सवाल नहीं हमारे सामने रह जाता कि प्रभाव हमारे ऊपर बाहर का पड़ ही नहीं सकता। क्योंकि हम इस बात को मानेंगे तो फिर हम ग्रपने किसी साहित्य को ले लें, हिन्दी साहित्य को ले लें, हम उसका विभाजन करते हैं संतकाल में ग्रौर उसके बाद वीरगाथा काल, भक्ति काल ग्रौर रीतिकाल ग्रौर उसके बाद ग्राज तक हमारे ग्राधुनिक काल में। जब हम इसको विभाजित करते हैं तो हमारे सामने उसके कारण होते है जिससे हमें ऐसा करना पड़ता है। किसी खास जमाने में, किसी समय कुछ ऐसी प्रवृतियाँ एकत्रित हो गई थीं कि जिनके कारण उस समय का सोचने-वाला इन बातों को जरूरी तौर पर सोचता था ग्रौर उनसे किसी तरह बच नहीं सकता था। वीरगाथा काल का जमाना जो हिन्दी साहित्य का है, या उर्दू से शायरी के जो सूफियों के इफ्तदायी काल का जमाना है, ग्रगर हम इन चीजों के ऊपर नजर रखें तो हमको यह बात बिल्कुल खुली हुई दिखाई देगी कि वीर-गाथाकाल के लिए जो उस समय साधन इकट्ठे हो गए थे, जो प्रवृत्तियाँ इकट्ठी हो गई थीं उनकी वजह से ऐसी किस्म की किताबें जैसे हम्मीर रासो, वीसल-देव रासो, या पृथ्वीराज रासो लिखी जा सकती थीं उससे पहले नहीं लिखी जा सकती थीं ग्रौर उसके बाद भी नहीं लिखी जा सकती थीं। इसी तरह से जब हम भक्तिकाल के बारे में सोचेंगे तो हमें बहुत सी बातों की तरफ ग्रपने ध्यान को उलझाना पड़ेगा, जैसे भक्तिकाल में किस प्रकार के प्रश्न उठाए गए हैं, किस तरह की बातें लिखने वालों ने लिखी हैं, कैसे-कैसे कवि पैदा हुए हैं ग्रौर उन्होंने ग्रपने विचार कैसे प्रकट किए हैं ग्रादि। ये जो तरह-तरह की चीजें हमको दिखाई देती हैं, जब हम इनका दार्शनिक रूप सोचने ग्रौर देखने की कोशिश करते हैं तो हमारे सामने यह भी प्रश्न ग्राएगा कि इसमें कितने वे प्रभाव हैं जो विधिवत् ग्रा गए होंगे। कितने वे प्रभाव हैं जो मुसलमानों के हिन्दुस्तान में ग्रा जाने की वजह से ग्रा गए ग्रौर कितने वे हैं जो उसी समय के ग्रापस के व्यवहार से पैदा

हुए होंगे। तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम इस बात को तो स्वीकार कर ही लें कि कोई साहित्यकार ऐसा नहीं हो सकता, चिंतक ऐसा नहीं हो सकता, जो बाह्य प्रभाव को एकदम स्वीकार कर ले या उसका बहिष्कार कर सके। यह पहली बात तो, मैं चाहता था कि दार्शनिक जगह पर रखकर देखें। लेकिन उसको सिद्ध करने के लिए हमको इतिहास से मदद लेनी पड़ती है और इसीलिए मैंने जो आपके सामने उदाहरण दिए हैं, वे इतिहास से दिए हैं। किसी साहित्य को ऐतिहासिक तौर पर देखना चाहते हैं और उसकी आलोचना या अनुसंधान करना चाहते हैं कि उस पर किस प्रकार के प्रभाव पड़े हैं तो उस समय हमें यह देखना पड़ेगा कि उस प्रभाव की शक्ल क्या है और उसके रूप क्या हैं ? वह प्रभाव आंतरिक होते हुए भी बाह्य है या नहीं हैं ? ये जितनी मिसालें मैंने आपके सामने दी हैं, सचमुच ये इतिहास से बाह्य प्रभाव की नहीं हैं जिसका मैंने जिक्र किया है बल्कि अपने ही साहित्य के अन्दर अपने ही देश के अंदर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती चली गईं कि जिसकी वजह से ये चीजें पैदा होती चली गईं। बाह्य प्रभाव हम विदेशी प्रभाव की शक्ल में देख सकते हैं। लेकिन वह बाह्य प्रभाव जो हम पर हर समय पड़ता रहता है, चाहे हमारी चेतना के विरुद्ध आकर कोई चीज हमको प्रभावित करे, उसको भी हम साहित्यिक बाह्य प्रभाव कहने पर मजबूर होंगे। क्योंकि वह हमारे अन्दर से उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि बाहर से आकर हमारे दृष्टिकोण को बदलती है, हमारी चेतना को बदलती है, हमारे सोचने और गौर करने के तरीकों को बदलती है और बहुत-कुछ यह भी हो सकता है कि हमारे लिखने का जो ढंग है, शैली है, उसको भी किसी हद तक प्रभावित करे। ये सब चीजें अगरचे हमारे अन्दर पहले से मौजूद होती हैं, लेकिन किसी न किसी बाह्य प्रभाव के बगैर वह पैदा नहीं हो सकतीं। जैसा कि कहा जाता है कि बाजे के अन्दर सभी राग मौजूद होते हैं, लेकिन बजाने वाले के हाथ जब तक उसको न छूएँ, जब तक कोई चोट किसी तरह की उसके ऊपर न पड़े तब तक कोई राग पैदा नहीं हो सकता, उससे ध्वनि पैदा नहीं हो सकती। लेकिन उस ध्वनि का पैदा होना भी उस राग के जानने वाले के ऊपर निर्भर है कि जो उस राग को जानता है। इस तरह प्रभाव ग्रहण करने में भी हमें ज्ञान की जरूरत है जिससे उस प्रभाव को सोचें-समझें और आवश्यकतानुसार अपनाएँ। प्रभाव से तो हम बच नहीं सकते, लेकिन उस प्रभाव को चेतनापूर्वक प्रयोग में लाने के लिए, उसको अपना बनाने के लिए, उसको ऐसी चीज बनाने के लिए जो केवल प्रभाव से प्रेरणा बन जाए, हमको सोचना है कि किस तरह से इस प्रभाव को एक लिखने वाला, एक कलाकार अपना बनाता है।

मैं उर्दू साहित्य के बारे में कुछ मिसालें देना चाहता हूँ, उनका जिक्र यहाँ कम आया है, इसलिए मैं दो-एक बातें जो जरूरी हैं, आपके सामने रखना चाहता हूँ। हमें उर्दू का साहित्य रूप जो बिल्कुल शुरू-शुरू में मिलता है, वह एकदम से रहस्यवादी है, रहस्यवादियों का लिखा हुआ है। वे ऐसे रहस्यवादी नहीं थे कि जैसे आज कोई रहस्यवादी पैदा हो जाए, बल्कि वे लोग थे जो उसी तरह का जीवन व्यतीत करते थे,उसी तरह की जिंदगी गुजारते थे,वही उनका रहना था,वही उनको सोचना था, और वे लोग साहित्य-निर्माता नहीं थे। जैसा कहा जाता है कि कबीर को दार्शनिक के रूप में देखें या कवि के रूप में देखें, यह वाद-विवाद की बात है, लेकिन हमारे लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम जब उन लोगों के बारे में सोचें और गौर करें तो हमको चूँकि उन्होंने साहित्य का रूप दिया है और उसके अन्दर जो चीज दौड़ रही है वह उनका अपना दर्शन, उनकी अपनी विचारधारा है, इस वजह से हम उसको न तो केवल यह कहकर अलग कर सकते हैं कि उसको साहित्य या कविता के रूप में नहीं देखेंगे और न हम यह कह सकते हैं कि यह केवल एक दर्शन का मार्ग था या दर्शन का रास्ता दिखाने के लिए था। ये दोनों चीजें ऐसी एक जगह पर आकर जुड़ जाती हैं कि जहाँ से हम दोनों को विभाजित नहीं कर सकते। यह बात भी कही गई थी और बिल्कुल ठीक कही गई थी, कि पढ़ने वालों पर और साहित्य चिन्तन करने वालों पर इस बात का दारोमदार है। यह उन पर निर्भर है कि वे उसके किस चीज को पढ़ना चाहते हैं। क्या चीज उसमें से ग्रहण करना चाहते हैं। मैं अक्सर बहुत सामने की एक मिसाल दिया करता हूँ, मैं ऐसी चीज को लेता हूँ जो शायद ज्यादातर लोगों ने कही होगी प्रेमचन्द का 'गोदान'। प्रेमचन्द के 'गोदान' के बारे में एक आदमी अगर यह जानना चाहता है कि यह किस समय के हिन्दुस्तान को पेश करता है, तो उसको हम इस बात से रोक नहीं सकते कि वह उसमें से १६३० के लगभग के हिन्दुस्तान को ढूँढ़ने की कोशिश करे। और उन उदाहरणों से जो उसके सामने जमींदार और किसान के संघर्ष की शक्ल में, या पूँजी-पतियों और मजदूरों के संघर्ष की शक्ल में या दूसरी बातों से जाहिर हुए हैं उनको देखे। अगर कोई आदमी उस दृष्टिकोण से उसे देखना चाहता है कि उस समय के देहात के हिन्दू समाज की क्या हालत थी, किस हद तक छूत-अछूत का सिलसिला चल रहा था, कितने उससे संघर्ष करने वाले मौजूद थे, देहातों में जो लोग बसते थे वे लोग किन वर्गों में विभाजित थे, किस तरह से उनके आपस के ताल्लुकात थे, किस तरह से वे लोग रहते सहते थे, तो उसको भी हम नहीं रोक सकते। उसको हम यह तो नहीं कहेंगे कि यह कोई ऐसा डाक्यूमेंट है कि जिसके ऊपर हम अपना सब कुछ रखकर एक इतिहास लिखा दें, लेकिन

ऐतिहासिक प्रमाण के तौर पर न सही, हम सामाजिक चेतना के असर को जाँचने के लिए उस चीज़ पर जरूर इस तरह से अनुसंधान कर सकते हैं, लिख सकते हैं। अगर कोई आदमी केवल इसे उपन्यास की दृष्टि से देखना चाहता है, कला की दृष्टि से देखना चाहता है, तो उसके लिए ये सब चीजें दूसरे प्रकार की हो जाएँगी और वह देखेगा कि उसमें भी कहानी कही गई है उसका प्रवाह कैसा है, घटनाएँ एक दूसरे से आपस में ठीक-तरह से मिलाई गई हैं, आदि।

तो मैं यह कहता हूँ कि साहित्य कोई हो, उसमें जब हम अभावों की तलाश करने की कोशिश करेंगे, तो उस समय जरूर देखना होगा कि हम उसको किस दृष्टि से देख रहे हैं। हम उसे केवल साहित्य की दृष्टि से देख रहे हैं या हम उसके अन्दर से कोई दूसरी चीज निकालना या देखना चाहते हैं। जिस चीज पर हम बल देंगे उसी की दृष्टि से हमारा वह अनुसंधान और वह उस वक्त की आलोचना होगी। क्योंकि हम सब चीजों को एक-साथ नहीं देख सकते हैं। मैं जो बात आपके सामने रखना चाहता था वह यह थी कि अगर हम उर्दू साहित्य को लें और उसके शुरू के जमाने को देखें, तो जो फकीर-फक़ुरात होते थे, जो सूफी मत के बड़े मानने वाले होते थे, वे लोग अपने मानने वालों के लिए, चूँकि वह कोई दूसरी भाषा नहीं बोल सकते थे, वही बोलचाल की भाषा बोल सकते थे, इसलिए वे अपने विचार उसी भाषा में प्रकट कर देते थे। अब वे किताबें इतनी पुरानी हो चुकी हैं कि जब हम उनको पढ़ते हैं तो उस कठिनाई के अलावा, जो हमको उसकी भाषा को समझने में थोड़ी बहुत होती है, विचारों के बारे में हमारा ध्यान ज्यादा चला जाता है और बजाय इसके कि हम यह देखें कि साहित्य के दृष्टिकोण से कितनी ऊँची और अच्छी किताब हैं अब वहाँ पर हमको यह दिखाई देने लगता है कि जो उस समय हिन्दू भक्तों के सोचने का ढंग था, उसने बहुत ज्यादा प्रभाव ग्रहण किया है। उसमें मुसलमानों की विचारधारा थी जिन्होंने ईरान से थोड़ा-बहुत प्रभावित होकर वहाँ के सूफी कवियों से और सूफी मत से उसको मिलाकर एक नई शक्ल दे दी। सबसे पहले हमको जो किताब इत्तिफाक से मिलती है वह है सैयद गेसुधराज की जो हैदराबाद-गुलबर्गा के रहने वाले थे। वे दिल्ली के रहने वाले थे, परन्तु गुलबर्गा में जाकर बस गए थे। उन्होंने वह किताब लगभग १४२१ के कुछ ही पहले लिखी होगी, क्योंकि १४२१ में उनकी मृत्यु हुई। उसमें निर्गुणवाद और सगुणवाद की बहस है। हालांकि उसका कहना जो कुछ है वह यह है कि जो आदमी सत्य की खोज में जो सत्य ईश्वर के रूप में दिखाई देता है, उसको किन-किन रास्तों से कहाँ-कहाँ जाना पड़ता है और कैसे वह अपनी उस मंजिल तक पहुँच सकता है, जहाँ उसको पहुँचना है, क्योंकि रुकावटें बहुत हैं। लेकिन इस बीच उन्होंने निर्गुणवाद और सगुणवाद की बहस की। अभी

उनकी एक दूसरी किताब भी मिली है। वह किताब ज्ञानेश्वर की किसी किताब से इतनी ज्यादा प्रभावित मालूम देती है कि, मैं स्वयं तो महाराष्ट्र की भाषा नहीं जानता हूँ, लेकिन उसके अनुवाद से मुझे मालूम है कि दोनों के सोचने के ढंग में कोई बड़ा फर्क था ही नहीं और दोनों करीब-करीब एक सा सोच रहे थे। यह इसलिए मुमकिन हो सका कि अगर सैयद गेसुधराज दिल्ली में रहते होते तो मेरा विचार है कि वे इस तरह से महाराष्ट्र के संतों से मुतअस्सिर नहीं हो सकते थे। यह तो खुली हुई बात है कि वे महाराष्ट्र के इलाके के पास जाते रहे, गुलबर्गा भी रहे, हैदराबाद के उस एरिया में घूमते-फिरते रहे और वहीं उसके मानने वाले ज्यादातर थे। वहाँ ज्ञानेश्वर के ख्यालात आम-तौर पर फैले हुए थे इसलिए उनको कोई मुश्किल नहीं आई कि दोनों को मिलाकर एक तीसरी चीज पैदा करने की कोशिश करें। लेकिन ऐसी तमाम चीजों में प्रभाव को हमारी प्रेरणा बन जानी चाहिए। अगर प्रभाव प्रभाव ही रहेगा तो वह केवल एक तरह की नकल होकर रह जाएगा, इमिटेशन होकर रह जाएगा। लेकिन वह हमारे अन्दर घुस जाता है, हमारा अपना बन जाता है तो हम फिर इस चीज को जब दुबारा सर्जनात्मक ढंग से बाहर निकालते हैं, उसको जब हम एक लिखने वाले के ढंग से पेश करते हैं, रचनात्मक दृष्टि से, कला की दृष्टि से तो वह हमारा अपना बन चुका होता है और वह बाहर का नहीं रहता। थोड़े दिन तक उसकी हालत एक बाह्य प्रभाव की रहती है, उसके बाद वह फिर हमारे आन्तरिक दृष्टिकोण की शक्ल अख्तियार करता है। इसलिए जब हम प्रभाव के बारे में सोच रहे हैं तो हमको एकदम उसके ऐतिहासिक ढंग को अपने सामने नहीं रखना चाहिए। मुझे उर्दू में दिखाई देता है कि १८०० से पहले कुछ शायरों ने, अँग्रेजों की निन्दा की है यह बात कुछ आश्चर्यजनक मालूम होती है उस समय के लिए। क्योंकि वह जमाना जागीरदाराना था, और उसी सामंत काल के गुण गाते हुए ये लोग थे, लेकिन इस बात को वे भूलते नहीं थे कि इस सांमत काल से भी बढ़कर एक मानव काल है जो हमेशा रहता है, हर वक्त रहता है और मानवता के लिए लड़ना ही हमारे लिए जरूरी है। इसलिए जो वे दु:ख सहन करते थे उसको लिखने में, वे ज्यादातर इस चीज को भूल जाते थे कि यह जुल्म, यह सितम, यह तकलीफ कहाँ से उनको मिली। लेकिन जब पानी सिर से ऊँचा हो जाता है तो कुछ करना ही पड़ता है। इसलिए बाद शायरों ने इस तरह के शेर लिखे हैं। "मुसफी" उसमें से एक शायर थे। उनका एक शेर इस वक्त याद आ रहा है, "हिन्दुस्तान की दौलतो अजमत जो कुछ भी थी ज़ालिम फिरंगियों ने बतरकीब खींच ली।" तो कभी-कभी ऐसा होता है कि शायर की जो चेतना होती है सोचने की, और विचार करने की जो शक्ति होती

है, वह चीजों को इस तरह ग्रहण कर लेती है कि उस समय तक न तो यहाँ के इतिहास के जानने वाले इस चीज को ठीक से समझ रहे थे, न यहाँ के अर्थशास्त्र के जानने वाले इस बात को समझ रहे थे और न दूसरे लोग इस बात को समझ रहे थे कि यह क्या-कुछ हो रहा है, क्या हमारे यहाँ की दौलत दूसरे मुल्क को जा रही है लेकिन एक कवि की दृष्टि में इसको देखिए। अगर आप देखेंगे तो आपको अनुभव होगा कि कभी-कभी ऐसा होता है कि हमें बहुत-सी चीजों का ध्यान रखना होता है बाह्य के रूप में, लेकिन वे हमारी इस तरह से अपनी बन जाती हैं कि हम चाहे उसको जाहिर न कर सके, बता न सके, लेकिन जाहिर कर देते हैं, बता देते हैं। यह जब हम काव्य चेतना और काव्य के बारे में सोचते हैं तब हमारे सामने आता है। मैं उदाहरण के लिए आपको यह बताना चाहता हूँ कि ५ जनवरी, १८०० को कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज बनाया गया, जिसमें अँग्रेजों को हिन्दुस्तान की कई भाषाओं को सिखाया जाता था और क्योंकि इन भाषाओं की किताबें नहीं मिलती थीं, इसलिए इसका भी बन्दोबस्त किया गया कि कुछ ग्रंथ वहीं पर लिखवाए जाएँ। जहाँ तक उर्दू का सम्बन्ध है, वहाँ पर १८०० से १८१२ तक पचास-साठ अच्छे ग्रंथ लिखे गए जिनमें कम से कम बीस ऐसे हैं, जो इस वक्त तक उर्दू में एक जीवित साहित्य की हैसियत रखते हैं। ये सब लिखे ऐसे लोगों ने जो अँग्रेजी का एक शब्द भी नहीं जानते थे। वे सब लिखे उन लोगों ने जो अगर वहाँ न जाते तो कभी मशहूर न होते, कोई उनको जानता भी न था। लेकिन वे लोग जब वहाँ गए तो उनको इस तरह की प्रेरणा मिली कि उन्होंने उन पुराने ग्रंथों का अनुवाद किया जो या तो फारसी में या अरबी में या भाषा में थे। बेताल पच्चीसी, शकुन्तला इत्यादि का उर्दू में अनुवाद हुआ। इस प्रकार कई किताबों के अनुवाद वहाँ पर हुए हैं। कुछ थोड़े से संस्कृत के ग्रंथों का भी अनुवाद हुआ है। इस तरह की चीजें उन्होने अनुवादित करके वहाँ पर प्रकाशित कीं। हमारा जो साधारण इतिहासकार है वह यह लिखता है कि यह बाहर के मुल्क का असर था। अब यह सोचने की चीज है कि हम इसे किस प्रकार से प्रभाव कहें, किस प्रकार से न कहें। क्योंकि जितनी किताबें अनुवादित हुई हैं वे सब यहीं की थीं। वे सबकी-सब पुरानी थीं। सब पुरानी किताबों का वहाँ पर अनुवाद कराया गया। उनमें ज्यादातर किस्से-कहानी की किताबें हैं, थोड़े-से इतिहास हैं। दो-चार और ऐसी हैं जिनको आप साहित्य कह सकते हैं। लेकिन ज्यादातर कहानी और किस्से को हैं। बात यह है कि किस्से-कहानियों के जरिए से उन जबानों को सिखाया गया और उसी में सुविधा होती थी। इसलिए अगर हम यह कहें कि यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभाव था, या अँग्रेजों के आने का प्रभाव था, या पश्चिमी साहित्य का प्रभाव था, यह सब कुछ गलत

होगा, क्योंकि इस साहित्य में जिसका अनुवाद हुआ है, एक चीज भी ऐसी नहीं है जो नई चेतना को पैदा कर सके, जो उस वक्त पैदा हो रही थी। एक शब्द भी ऐसा नहीं है जिससे कि इस बात का पता चल सके। हाँ, मगर एक चीज है कि उसकी शैली उन शैलियों से, जो उससे पहले रची गई थीं, विचित्र है। उसकी शैली में वह रंगीनी, वह मजा नहीं है जो कि उससे पहले के गद्य में आ चुका था। काव्य की बात नहीं कह रहा हूँ क्योंकि गद्य की ही वहाँ पर रचना हुई। तो इस चीज को हम किस तरह का प्रभाव कहें, यह सोचना और गौर करना बड़ा मुश्किल मालूम होता है। इस वक्त तक हमारे आलोचक सिवाय इसके कि वे यह कह दें कि अँग्रेजों की देखरेख में चूँकि यह रचनाएँ लिखी गई थीं और तैयार की गई थीं, इसलिए उनका असर है, नहीं तो जहाँ तक कि मैं उसके अन्दर को देखता हूँ, उन किताबों के अन्दर की चीजों को देखकर कोई असर मुझे ऐसा नहीं दिखाई देता और उनमें किसी किस्म की ऐसी चेतना का पता नहीं चला है कि जिसका उस जमाने के हालात से, इतिहास से, नीति से, किसी चीज से ताल्लुक हो; कुछ भी पता नहीं चलता। तो यह जो बात है कि हम किस तरह से प्रभावित होते हैं, किस तरह नहीं प्रभावित होते हैं, यह एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है और इसके बारे में सोचते वक्त हमें इन बातों को देखना होगा कि क्या केवल कहने से कोई इस तरह का प्रभाव ले लेना हमारे साहित्य-चिन्तन को बदल सकता है या नहीं। सन् १८१२ में आज जो दिल्ली कालेज है, वह कायम किया गया। उसके लिए कहा गया कि सब चीजें उर्दू में पढ़ाई जाएँगी। साइंस, नीति, दर्शन शास्त्र, तर्क शास्त्र और गणित सब चीजें उर्दू में पढ़ाई जाएँगी। उर्दू में किताबें नहीं थीं इसलिए उस कालेज ने वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसाइटी कायम की और यह सुनकर आपको ताज्जुब होगा कि हमारे शायरे-आजम टैगोर के दादा उस कमेटी में थे, क्योंकि वे फारसी और उर्दू जानते थे। उस कमेटी ने यह तय किया कि अँग्रेजी की ऐसी तमाम किताबों का, जो पढ़ाई जाती हैं, उर्दू अनुवाद किया जाए और लगभग १५० पुस्तकों का अनुवाद किया गया। उसमें देखेंगे कि दो-तीन नामों के अलावा कोई ऐसा नहीं है कि जिसने कभी कोई और चीज लिखी हो, वे लोग केवल अनुवादक थे। अँग्रेजी भाषा जानने वालों से साइंस इतिहास, भूगोल आदि की किताबें का अनुवाद करने को कहा गया और उन्होंने अनुवाद कर दिये। देखना और सोचना यह है कि यह किस प्रकार का प्रभाव है। क्या केवल उन किताबों का अनुवाद हो जाना या अनुवाद करने वालों का अँग्रेजी भाषा से थोड़ा बहुत वाकिफ होना, यह हमें बता देता है कि कोई प्रभाव पड़ा? मगर जब हम इसको दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं तो यह मालूम होता है कि यह बहुत बड़ा प्रभाव था। उस वक्त के १८ वीं और १९

वीं शताब्दी के भारतवर्ष में जब हमारे चिन्तन में, विज्ञान की और दर्शनशास्त्र की कोई जगह बाकी नहीं रह गई थी, उस वक्त उन चीजों की तरफ अपनी भाषाओं के जरिए लोगों को आकर्षित करने या उसकी तरफ संकेत करने में इस चीज ने उस समय मदद दी। इसलिए यहाँ पर जब हम प्रभाव के बारे में सोचना शुरू करेंगे तो हमारा प्रभाव के बारे में सोचने का ढंग दूसरा होगा। अगर चन्द किताबें, उस प्रकार के साहित्य की नहीं हैं जिस प्रकार से हम रचना को सोचते हैं, अनुवाद है और ऐसी चीजों का अनुवाद जिसका साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन इसके बावजूद इन्हीं किताबों को पढ़ने वाले दिल्ली कालेज के पैदा हुए मौलाना मोहम्मद हुसैन आजाद, मौलाना डा० नजीर अहमद, मौलाना जफ्फार उल्ला, आदि जिन्होंने उर्दू में नए साहित्य की बुनियाद डाली थी। इनमें से कोई भी अँग्रेजी जानने वाला नहीं था, उस तरह से कि जैसे अँग्रेजी जानी जाती है। डा० नजीर अहमद ने बाद में सीख ली थी, क्योंकि वह सेना के ओहदे पर पहुँचे थे, उनको एक मौका मिल गया था इसलिए उन्होंने सीख ली थी। इनमें से कोई अँग्रेजी जानता ही नहीं था लेकिन आप इनकी किताब पढ़िए तो आपको मालूम होगा कि उस जमाने की चेतना को इन लोगों ने किस तरह से पकड़ लिया है और किस तरह से इस हिन्दुस्तान के पुनर्जीवन में इसको मिला दिया है कि कभी नहीं कह सकते कि यह बाहर से लिया है और उसके अन्दर ले लिया है। क्योंकि उनके अन्दर जो संघर्ष था वह अपनी उस आत्मा का था कि जो यहाँ के कुछ दिन पहले एक हाकिम वर्ग के आदमी होने की वजह से उनके अन्दर भाव मौजूद थे, उनके गुण मौजूद थे और यह भी मौजूद था कि वास्तविक तौर पर हम हार मान चुके हैं और हमको उन चीजों को ग्रहण करना पड़ेगा जो बाहर से आई हैं। यह संघर्ष उन्होंने किस तरह किया उसकी एक छोटी सी मिसाल आपके सामने पेश करता हूँ। कुरान शरीफ १३०० वर्ष से पढ़ा जा रहा था, लोग उसे पढ़ते थे और उससे अपना काम चलाते थे, लेकिन कभी उसमें से कोई आयतें निकालकर यह कोशिश नहीं की जाती थी कि उसकी मदद से कुछ लोगों की जिन्दगी बदली जाए। मौलाना हाजी ने कुरान शरीफ में से आयतें निकाल-निकाल कर यह कहा कि ईश्वर उस राष्ट्र की हालत नहीं बदलता जो खुद अपनी हालत नहीं बदल सकता। यह कुरान शरीफ में १३०० वर्ष से लिखा था। लेकिन यह चेतना कि इस आयत का इस मौके पर इस्तेमाल किया जाए, यह ऐसी चीज है जिसको हमें तलाश करना चाहिए कि प्रभाव साहित्य पर, साहित्य-चिन्तन पर किस तरह पड़ता है। यह चीज अगर हम सोचें तो हमको मालूम होगा, यह बात पढ़ने वाले की समझ में नहीं आ सकती, उस वक्त जब कि हम एक ऐसी जगह पहुँच गए थे जहाँ हमको यह

मालूम हो रहा था कि हम लोगों के हालात नहीं बदल सकते, वहाँ पर इन लोगों ने कुरान की कसम खाकर या उसी पर अपना हाथ रखकर या उसी को अपना समझ कर कुछ कर दिखाया। उन्होंने मिल्टन, वर्डसवर्थ, स्काट् आदि का अपनी किताबों में जिक्र किया है और उनके विचारों को देकर यह लिखा है कि यह चीजें ऐसी हैं जो कि हमें माननी चाहिए। लेकिन उन्हें मालूम हुआ कि बहुत से लोग तो न गालिब से वाकिफ हैं, न मिलटन से, न वर्डसवर्थ से, न गोल्डस्मिथ किसी से वाकिफ नहीं हैं। इसलिए उन्होंने तुलनात्मक ढंग अख्तियार किया। उसी तरह की जो पुरानी चीजें उनको अरबी और फारसी की किताबों में मिलती थीं उनको उन्होंने ढूँढ़ निकाला।

१८५३ की बात है। सर सैयद अहमद ने किताब लिखी। उस जमाने में कहा जाता था कि फ़ारसी में ग़ालिब से ज्यादा अच्छा जानने वाला कोई नहीं था तो स्वाभाविक था कि सर सैयद के दिल में ख्याल पैदा होता कि अगर इस किताब पर ग़ालिब कुछ लिख दें तो बहुत अच्छा हो। इसलिए यह किताब उन्होंने गालिब के पास भेज दी। गालिब के पास जब यह किताब गई तो न जाने वे कब से भरे बैठे थे कि उन्होंने सर सैयद को, जो कि उनके दोस्त थे, बजाय इसके कि उनकी किताब पर कोई अच्छा सा लेख लिख देते, कोई ऐसी प्रशंसनीय बात लिख देते जिससे सर सैयद खुश हो जाते, २५-३० लाइनों की एक कविता फ़ारसी में लिखकर भेजी जिसको कि सर सैयद जैसे आदमी ने पसन्द नहीं किया। उन्होंने उस कविता में लिखा कि अब तुम इस पुरानी किताब को लिए हुए क्या करोगे। इसकी हैसियत एक पुरानी जंत्री की सी है। अब तुम्हें यह चाहिए कि नए जमाने को देखो, देखो बगैर तेल के चिराग जलते हैं, बगैर कबूतर के खत एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाता है, बगैर किसी आवाज को लिए हुए एक खबर एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाती है। अब तुम इसको लिए हुए क्या करोगे। और फिर कोई यह कहता कि सर सैयद अहमद उनके दोस्त थे, उनके कहने से ऐसा कुछ लिख दिया है, ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने यह लिखा कि हर जमाना अपने साथ अपना नया जीवन लाता है और अगर तुम इस बात को नहीं समझते हो तो इस किताब को छपवाने से तुम्हें कोई फायदा नहीं। यह १८५२-५३ में ग़ालिब जैसे कवि ने अपना ख्याल जाहिर किया जो ज्यादातर गीति-काव्य लिखते थे, गजलें लिखते थे, कसीदे लिखते थे, जिसके बारे में यह ख्याल नहीं हो सकता था कि वह जमाने को बदलता हुआ देखकर उससे प्रभावित हो रहा है। तो आप यह समझ सकते हैं कि किन-किन रास्तों से कौन-सी चीज कवि के दिल पर और लेखक के दिल पर असर करती है, इस बात को हमें ढूँढ़ना पड़ेगा। इसलिए सीधे स्वभाव से यह कह देना कि जैसा जमाना होता है,

जैसे हालात होते हैं, उनका असर हम पर पड़ जाता है काफी नहीं है। हमें निश्चित करना होगा कि उसमें से किस चीज को हम ग्रहण करें और किस चीज को ग्रहण न करें। इस चीज को मेरा ख्याल है, जरूरत से ज्यादा ऊपर उभारने की और निखारने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि इसे छोड़ देना चाहिए हमारे लेखकों, चिन्तकों और साहित्यकारों पर कि वे जब इन चीजों को ऐसा समझें कि उसके जरिए से वे अपने साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। वे खुद इस बात का फैसला करें, इस बात को सोचें और समझें कि क्या इसके किए बगैर वह साहित्यकार कहे जा सकेंगे ? नकल करना या किसी चीज का अनुवाद कर देना, कोई चीज कहीं से लाकर किसी जगह रख देना यह बहुत ज्यादा मुश्किल काम नहीं है, लेकिन इस चीज को अपना बना लेना, अपना बना कर पेश करना मुश्किल काम है।

मैं इस बात को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखता हूँ कि हमारी नई कविता में जो इस समय परिवर्तन हो रहा है या हमारे प्रगतिशील लेखकों या प्रयोगवादी लेखकों से नई कहानी लिखी जा रही है उसके लिए दिन-रात वाद-विवाद हुआ करते हैं। उर्दू में भी, हिन्दी में भी हर जगह देखता हूँ और हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं में भी यह हो रहा है और बाहर भी हो रहा है। तो इसका क्या कारण है ? क्या ऐसा है कि कुछ लोग केवल इसलिए इन चीजों को लिख रहे हैं कि उनको एक तरह की आत्महीनता का एहसास है और वे यह सोचते हैं कि वे इन बाहर की चीजों को ले आएँ तो अच्छा होगा। अगर इस समय ऐसा कोई लिख रहा है तो आप खुद उसको बड़ी आसानी के साथ पहचान सकेंगे कि उसकी कविता में वह अंकित है या नहीं कि जो पढ़ने वाले को और लिखने वाले को एक दूसरे से बाँधती है। यही सबसे बड़ी पहचान है अच्छे लेखन की कि पढ़ने वाले को और लिखने वाले को एक करता है या नहीं। अगर वह नहीं कर सकता है तो हमें समझना चाहिए कि कहने वाले के दिल में अभी वे भावनाएँ पैदा नहीं हुई जिनके जरिए से वह इन चीजों को हमारे सामने पेश करे। लेकिन इस बात को सोचना कि अगर वह प्रभाव कहीं बाहर हों और हमारे यहाँ आए ही नहीं, यह चीज मैं समझता हूँ, हमारे लिए मुमकिन ही नहीं रह गई।

हम लोगों की विचारधारा में सोशलिज्म के तत्त्व हैं, सोशलिज्म का इस्तेमाल न करें, कोई और शब्द उसकी जगह पर प्रयोग करें, कुछ ऐसा सोचें कि उसके अन्दर की जो बातें हैं, उन चीजों की आज हमें आवश्यकता है या नहीं और हम इन चीजों को अपनाने की कोशिश करते हैं, उनका जिक्र करते हैं तो क्या हम केवल इसलिए करते हैं कि इस पर मार्क्सिज्म का असर है या बाहर

से सोशलिज्म हम पर लादी जा रही है। मुझे ऐसा नहीं मालूम होता है। खुद हमारी अपनी आवश्यकताएँ, हमारी परिस्थितियाँ इन चीजों को हमारे अन्दर जन्म दे रही हैं और हमको जब कहीं वह चिराग जलता हुआ दिखाई देता है तो उससे रोशनी लेने की कोशिश करते हैं। उसके सिवा मुझे और कुछ दूसरी चीज उसमें दिखाई नहीं देती। होता यह है कि लिखने वाले की इकाई तो बाकी रह जाती है लेकिन वह दो और बड़े-बड़े दायरे से गुजर कर उन चीजों से मिलाती हैं कि जो उससे ज्यादा दूर पर फैली हुई हैं। कोई आदमी आज अपनी झोंपड़ी के अन्दर बैठा रहना पसन्द नहीं करता। अगर बैठा रहना पसन्द भी करे तो बाहर जो आँधियाँ चल रही हैं जो हवाएँ चल रही हैं, उनसे किस तरह हम अपने घर बचा सकते हैं? हमारे लिए यह बिल्कुल नामुमकिन हो गया है। अगर हम यह सोच लें किसी तरह से कि हम अपने घर को इन चीजों से पाक रखेंगे, इन चीजों को अपने यहाँ आने ही न देंगे तो यह हमारी कितनी बड़ी भूल इसलिए होगी कि हमारी परिस्थिति पुकार-पुकार कर यह कह रही है कि यह नहीं तो इससे मिलती-जुलती चीजों को हमें अपनाना पड़ेगा। किसी न किसी शक्ल में इन्हें अपने लिए लाना जरूरी होगा। लेकिन जब हम इसे साहित्य में लाने की कोशिश करते हैं, तो लेखक को यह देखना होगा कि जो चीजें वह ले रहा है उसके व्यक्तिगत रूप में, वे उसकी रचना शक्ति को बढ़ाती हैं या नहीं बढ़ातीं। अगर वे बढ़ा सकती हैं तो यकीनन उसको कोई यह कहने वाला नहीं होगा कि तुमने यह चीजें बाहर से लीं, तुम पर यह प्रभाव बाहर से आया है। अगर वे अपने अन्दर समा नहीं सकेंगी, उनको अपना बना नहीं सकेगी, उसके खून में वह चीज दौड़ेगी नहीं उसके अनुभव का अंग नहीं बनेगी, उसके भावों को जाग्रत नहीं करेगी तो मेरा विचार है कि वह किसी तरह लिखे, कितना ही लिखे, कितना ही दूर-दूर से ढूँढ़-ढूँढ़ कर दर्शन, तर्क और राजनीति के उसूल ले आए, लेकिन उसको कभी एक साहित्यकार की हैसियत से सफलता नहीं मिल सकती।

★

श्री बालकृष्ण राव

समापन-भाषण

हमारे देश में भी ऐसे लेखक हैं जिन्हें हम राजनीतिक दृष्टिकोण से कम्यूनिस्ट लेखक कहते हैं। लेकिन यह एक निरर्थक बात है। लेखक कम्यूनिस्ट कैसे हो सकता है, वह तो उपन्यासकार होगा, कवि होगा। लेकिन यहाँ वह कम्यूनिस्ट भी है, लेखक भी। यह हम आसानी से कह देते हैं और सोच लेते हैं। क्योंकि इसके पीछे जो दृष्टि है वह यह स्वीकारती है कि उस लेखक की रचना प्रक्रिया का तात्त्विक अंश बन गया है उसका कम्यूनिस्ट दृष्टिकोण, उसकी कम्यूनिस्ट विचारधारा। यह भी एक बाह्य प्रभाव है।

हमारी अगर कहीं पहुँच है, तो हमारी किताब का एक संस्करण तो आसानी से यों ही निकल जाएगा। इसके परिणामस्वरूप एक बार श्री कन्हैयालाल मुंशी जी ने कहा था कि आज का साहित्यकार सरकार के बीच में आ जाने की वजह से अपने भावक पर निर्भर नहीं रहता है। वास्तव में भावक को, साहित्य के भावक को सम्बोधित नहीं करता है। इसके लिए नहीं लिखता है क्योंकि वह परकटा है। वे जानते हैं किताब की बिक्री, किताब की सफलता दो शक्तियों पर निर्भर करती है—सरकार पर और प्रोफेसरों पर। अगर इन दोनों को चीज अच्छी लगी, उन्होंने पसन्द की या उनमें से एक भी ने की तो सफलता निश्चित है और प्रकाशक का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ है। इसलिए उसकी दृष्टि में समीक्षाएँ अच्छी निकल जाएँ, चाहे मिन्नत-आरज़ू करके खुद लिखवा दे और चाहे अपने दोस्तों से, जो बहुत होता है। मैं सम्पादक हूँ, जानता हूँ कि मेरे पास अयाचित समीक्षाएँ निकलने आती हैं। लेखकों के पत्र आते हैं, जिसमें वे

स्वयं कहते हैं कि अमुक से समीक्षा करा दीजिए। यह कोई नई बात नहीं है। लेखक की दृष्टि में सफलता क्या है? यह एक बाह्य प्रभाव है, सामाजिक, विघटन और समाज के नैतिक विघटन का प्रभाव कि लेखक की दृष्टि में सफलता उसकी पुस्तक की समीक्षा हो जाना है, चाहे वह खुद कराए और सामाजिक नैतिक विघटन के कारण ये प्रभाव, साहित्येतर प्रभाव, इतने प्रधान हो जाते हैं, इतने सबल हो जाते हैं कि वे सच्ची साहित्य सृजना के लिए घातक हो जाते हैं। वास्तव में कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं है यदि वह प्रभाव साहित्य सृजना की श्रीवृद्धि शक्ति को बढ़ाए और परिणामस्वरूप यदि साहित्य की श्रीवृद्धि हो लेकिन इनमें कई प्रभाव ऐसे हैं जिनके कारण साहित्य की संख्या वृद्धि होती है इस अर्थ में कि बहुत सी किताबें निकल जाती हैं और कोई श्रीवृद्धि नहीं होती।

हमने अपने साहित्य को कई खंडों और कालों में विभक्त किया है, यदि हम इसे, आज के युग को, आधुनिक काल के इस खण्ड को अनुवाद काल या अनुकरण काल कहें तो आंशिक सत्य तो होगा ही। विदेशी प्रभाव के बारे में एहितशाम साहब ने जो बात कही है, मैं सहमत होते हुए भी यह तो नहीं मानता कि विदेशी प्रभाव के प्रति हमें सावधान होने की आवश्यकता नहीं है, मैं समझता हूँ कि है। डा० आर्येन्द्र शर्मा ने अपने भाषण में भाषा पर जो प्रभाव दिखाया था वह प्रभाव क्यों पड़ सका? उस हीन वृत्ति के कारण अपने को छोटा समझने की प्रवृत्ति के कारण लेखक की भाषा पर वाक्य विन्यास में, शब्दों में, मुहावरों के इस्तेमाल में वह प्रभाव पड़ा। पर उतना ही नहीं, मैं अपने प्रारम्भिक भाषण में बोटनिक के प्रभाव की बात कह रहा था। वह कहाँ से आ रहा है, किस रूप में आ रहा है, क्यों आ रहा है? क्यों दुनिया भर की कविताएँ-कहानियाँ लिखी जाती हैं इस प्रभाव के अन्तर्गत? उनके पीछे कौन-सी दृष्टि है सिवा इस दृष्टि के कि हम नकल करें, उनकी नकल करें जो इस समय वहाँ, यूरुप में, फैशनेबल हैं। क्योंकि उनके समान हम चलेंगे तभी हम प्रगतिशील या आधुनिक हैं, नहीं तो नहीं हैं।

कुछ लेखकों ने कहा जरूर है फिर भी कहना गलत है कि जिस समय छायावादी कविता का युग था, उस समय छायावादी कविता पर रोमांटिक रिवाइवल का असर नहीं पड़ा; भरपूर पड़ा। लेकिन छायावादी कविता पर अंग्रेजी की रोमांटिक रिवाइवल की कविता का असर पड़ा, वह समकालीन कविता का असर नहीं था। उस युग में जब छायावादी कवि पढ़ते थे उस समय यह सही है कि इंगलैंड में रोमांटिक रिवाइवल न जाने कितना पुराना हो चुका था। लेकिन वर्डसवर्थ, शैली और कीट्स की कविताएँ उन लोगों को स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाती थीं और उन्हीं कविताओं से हमारे वे कवि परिचित

थे। उस समय ऐसे ही छायावादी कवि, भारत में उपलब्ध थे जो स्कूल और कालेजों में थे और वे अँग्रेजी काव्य का अध्ययन करते थे।

टी० एस० इलियट की पुस्तकों के बारे में कोई नहीं जानता था और चूंकि उन कवियों का प्रभाव इन छायावादी कवियों पर अच्छी तरह से जिस तरह उन्हें अँग्रेजों ने पढ़ाया, पड़ा इसलिए इन कवियों का थोड़ा बहुत उनके साथ तालमेल स्थापित करने में वे समर्थ हुए। उसके बाद जब हम आज देखते हैं कि अँग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव ग्रहण किया जाता है तो उस साहित्य का नहीं जो वहाँ पुराना हो चुका है, बल्कि उसका जो वह इस समय लिखाया जा रहा है और वह विद्यालय में पढ़कर नहीं सीखते, क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार इतना हो गया है कि लोग स्वयं सीधे किताबें लेकर पढ़ते हैं और उससे प्रभाव ग्रहण करते हैं। इसमें वैसे तो कोई खतरे की बात नहीं थी। अनुकरण की प्रवृत्ति हमारी हीन-भावनाओं के कारण जागती है, क्योंकि हम राजनीतिक दृष्टि से आजाद हो गए हैं लेकिन अभी अपने दिलों से, दिमागों से आजाद नहीं हुए हैं। इसके अलावा एक चीज और है कि अँग्रेजी के ज्ञान का प्रसार हो गया है, बहुत ज्यादा लोग अँग्रेजी जान गए हैं, लेकिन कितने हैं जो सचमुच जानते हैं। अमरीका के प्रसिद्ध कवि और विचारक एलेनफ़ावल का एक निबंध है "दि पोइटिक प्रिंसिपिल" उस निबंध का असर फ्रांस पर जबरदस्त हुआ, इतना जबरदस्त हुआ कि वहाँ पर सिम्बोलिस्टिक मूवमेंट खड़ा हो गया। उसी एक निबंध का यह प्रभाव था और जैसा कि सब नेता लोग स्वीकार करते हैं कि वह प्रभाव उस वक्त न पड़ता अगर फ्रांस के लोग उस निबंध को सही-सही समझ लेते। उन्होंने जैसा कुछ उसे समझा उसके अनुसार एक प्रभाव ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप उनके यहाँ यह मूवमेंट चल पड़ा। हमारे भाई बन्धु जो आज के आधुनिक साहित्य से बड़े धड़ल्ले से प्रभाव ग्रहण करते हैं, नकल भी करते हैं, उनमें से कितने उसको समझते हैं और मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ उनमें से बहुत कम सचमुच इसे समझते हैं जिसका प्रभाव वे कोशिश करके ग्रहण करते हैं। यह एक हीन वृत्ति है, एक तरह की दैन्य स्थिति है जिसके विरुद्ध हमें अपने लेखकों को सावधान करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि इसमें हम जो सम्पादक हैं जो अध्यापक हैं, जो समीक्षक हैं, हम सबका एक कर्त्तव्य है। हम इस प्रवृत्ति को रोक तो नहीं सकते, तो भी अपनी नीति जो कुछ अपने सम्पादन में, अपने अध्यापन में या अपनी आलोचना में इस अस्वस्थ गलती को कुछ न कुछ रोकने की चेष्टा तो कर ही सकते हैं और सरकारी थोक खरीद, सरकारी पारितोषिक, उनके कारण जो पुस्तक पूरी करके मुद्रित कर जल्दी से प्रकाशित

करने की प्रवृत्ति, उसके पीछे जो अपेक्षित है वह दृष्टि, वह चिन्ता, उसका भान, इसे न रोकने की जरूरत है और न हम रोक सकते हैं। जरूरत यों नहीं है कि सचमुच सृजक साहित्यकार के रूप में अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा रखते हैं, वह इससे इस क़द्र प्रभावित होगा ही नहीं। जो नहीं रखता है वह प्रभावित हो या न हो, उससे किसी को क्षति नहीं है। यह जो अस्वस्थ विदेशी प्रभाव हैं जिनके कारण यह अपच हो गया है, जिसके लक्षण हम साहित्य में देख रहे हैं बरावर इससे अवश्य हमें अपने साहित्यकारों को, प्रकाशकों को भी यदि सम्भव हो, रोकने और सावधान करने की चेष्टा करनी चाहिए।

★

लिखितरूप में प्राप्त विचार

★

डा० प्रभाकर माचवे

विदेशी क्या ?

तीन मत हैं : एक के अनुसार साहित्य में देशी-विदेशी सीमाएँ अर्थहीन हैं। जो कुछ है वह मानव मात्र के लिए समान है। भारत का लेखक अफ्रीका या जापान या रूस या अमरीका के बारे में क्यों न लिखे, और उसी वातावरण से क्यों न सोचे ? उदाहरण: ए० स० के० पोट्टेकाट्ट (मलयालम) अफ्रीका के, मुज्तबाअली (बंगला) मध्य पूर्व के, अन्नदाशंकर राय (बंगला) जापान के, गंगाधर साडगिल (मराठी) इटली और काप्री के, अज्ञेय फ्रांस के, और उषा प्रियंवदा अमरीका के, निर्मल वर्मा आइसलैंड के और अमृता प्रीतम (पंजाबी) सोवियत रूस के बारे में प्रवास-वर्णन ही नहीं कहानियाँ, उपन्यास, कविताएँ आदि लिखते हैं। वे क्यों न लिखें ?

दूसरा आत्यन्तिक मत उन लोगों का है जो विदेशी प्रभाव मात्र को अस्पृश्य मानकर चलते हैं : जो अपनी भाषा में एक भी आयातित शब्द ग्रहण नहीं करना चाहते। वे केवल अपनी जड़ों से चिपटना चाहते हैं और निरंतर भूतकाल में ही रमते हैं। उनका प्रिय व्यवसाय उत्खनन, तिथि-निर्धारण, अप्रचलित और अपरिचित भाषा का अध्ययन और उसी से नये शब्द गढ़ना है। उनके लिए पर धर्म भयावह है। बाहर जाकर भी वे निरन्तर अपने ही देश के समान-विचार-बंध ढूंढ़ते हैं। चमनलाल ने हिन्दू अमेरिका पुस्तक लिखी है, डा० रघुवीर ने मंगोलिया में भी भारतीय मन्त्र देखे, पु० ल० देशपाँडे ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में कई भारतीय समानताएँ देखीं।

तीसरा मत उन लोगों का है जो देशी-विदेशी की सीमा रेखा तो स्पष्ट रूप से मानकर चलते हैं पर विवेक के साथ नवीनता को ग्रहण करना चाहते हैं। जब ई० एम० फार्स्टर देवास में भी इंगलैंड नहीं भूलते तो हमारा लेखक हवाई में अलकापुरी की याद करे या रूमानिया में राजस्थान की तो उसमें क्या अक्षम्य है ? एक बंगाली लेखक की पुस्तक का नाम ही है 'मास्को से मारवाड़'।

हमारे देश में भी अनुवाद देखें तो एक भाषा से दूसरी भाषा में उसकी ग्रहण-शीलता के अनुपात में ही यह काम हुआ है। चाहे शेक्सपीयर हो या उमर ख़य्याम, ताल्स्ताय हो या थोरे—अनुवाद स्वेच्छा से जहाँ हुए हैं— वहाँ उस भाषा की उदारता या अपने तक सीमित रहने की इच्छा ही व्यक्त हुई है।

साहित्य में कुछ भी विदेशी नहीं है यह आधुनिकता-वादियों का आग्रह है। साहित्य में कुछ भी केवल देशी नहीं हैं यह प्रगतिवादियों का कथन था। केवल देशी ही मूल्यवान है यह संस्कृति पूजकों का मत है।

प्रभाव कैसे ?

साहित्य में प्रभाव राजनीति या दर्शन की तरह सीधे नहीं पड़ते। पर तिथि रूप से आते हैं। पहले वह समाज के, जीवन-नीति के अंग बनते हैं; बाद में वह कवि या कहानीकार या नाटककार के व्यक्तिगत भाव-बोध में रच-पचकर नया रूप लेते हैं। साहित्य-सृष्टि में भौतिक प्रभाव पर्याप्त नहीं, यह आलोचक भूलते हैं। मार्क्सवाद या अस्तित्ववाद का जो रूप यूरोप या पश्चिमी देशों में पड़ा हो, वह भारतीय साहित्य पर भी ज्यों-का-त्यों पड़ेगा—यह आवश्यक नहीं है।

हमारे देश में बीसवीं सदी में अरविंद-रवीन्द्र-गाँधी के प्रभाव में साहित्य बढ़ा-पनपा उन्नीसवीं सदी के राष्ट्रवाद ने, पुर्नजागरणकाल में, चाहे बंगाल में राजाराममोहनराय से मानेन्द्रनाथ राय तक और महाराष्ट्र में रानडे-गोखले से लगाकर सादीकर तक, प्रेरणाएँ विदेश से लीं। नेहरू पर भी काफी विदेशी चिंतकों का—फोबियन समाजवादियों का, शा और रसेल का, असर था। प्रभाव द्वितीय महायुद्ध के बाद साहित्य पर अधिक पड़ा।

पर भारतीय कविता पर प्रभाव शैली-शिल्प, रीति-पद्धति, छन्द, अलंकार, बिंब-योजना पर पड़ा है ? माईकोअस्की हो या इलियट, रिल्के हो या ह्वाइक भारतीय कवियों में श्री-श्री, मढ़कर, बुद्धदेव वसु, मुक्ति बोध, शमशेर सब पर विदेशी कवियों का ऋण है।

कथा उपन्यास पर प्रभाव कभी-कभी कथानक के गठन, पात्रों के स्वभाव-रेखन, वातावरण-निर्मिति आदि पर दृष्टिगोचर होता है। एलियाए हरनबर्ग की "रिपोतजि" शैली कृशनचन्द रांगेय राघव, रेणु सब में और स्टाइनबेक या हेमिंग्वे की "आँचलिकता" का असर कई नये कथाकारों और उपन्यासकारों पर है, श्री ना० पेंडसे ने रथचक्र की भूमिका में 'दि टेम्प्टेशन' की नायिका का उल्लेख किया है। उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं।

नया सामाजिक समस्याप्रधान नाटक तो स्पष्टतः इब्सन और शा, चैखव और ब्रेख्ट का ऋणी है। लक्ष्मीनारायण मिश्र से लक्ष्मीनारायण लाल तक, मामा वरेरकर से विजय तेंडुलकर तक, आई० सी० नन्दा से बलवन्त गार्गी तक सब अंशतः प्रभावित है—न केवल तन्त्र में, पर कथोपकथन शैली और भाषा के संयम में भी।

नया साहित्य भारत में विदेशी महान लेखकों की प्रेरणा लेकर चल रहा है।

★

भारतीय साहित्य का परिप्रेक्ष्य

★

डा० मुल्कराज आनन्द

यह एक कठिन समस्या है बहुत कम लेखक हैं जो समूचे भारतीय साहित्य को जानते हैं। अधिक से अधिक पाँच-छह भाषाओं के साहित्य से परितते कुछ आलोचक हैं। अधिकतर आलोचक अपना आधार बनाते हैं केवल संस्कृत को, या केवल अँग्रेजी को। यह दोनों विचार-पद्धतियाँ अपर्याप्त हैं। भारतीय साहित्य केवल संस्कृत नहीं; भारतीय साहित्य केवल अँग्रेजी में लिखा जाने वाला साहित्य नहीं। वह भारतीय भाषाओं का साहित्य है। यहाँ एक योजनाबद्ध काम की आवश्यकता है : प्रिंसिपल प्रियरंजन सेन ने 'बंगला पर विदेशी प्रभाव' पर प्रबंध लिखा; डा० वीरभद्र राव ने 'तेलुगु पर अँग्रेजी प्रभाव' पर प्रबंध लिखा; ऐसा ही काम कई विश्वविद्यालयों में कई भाषाओं के बारे में चल रहा होगा। उनकी सूचनाएँ एकत्रित होनी चाहिए-उपलब्ध करानी चाहिए।

इन्हीं तुलनात्मक कामों में से एक अखिल भारतीय आधुनिक साहित्य मापदंड निर्मित होगा। उसके अभाव में केवल वृथा भावुकता में मेरा साहित्य बड़ा तेरा छोटा ऐसा बचपना करने से विद्वानों का काम नहीं चलेगा। इस विषय पर बोलने या अनुसंधान करने से पहले अपनी कितनी भाषाओं में गति है, इस पर पहले सोचकर आलोचक और विवेचक बढ़ें तो उचित होगा।

जो बात देशी भाषाओं के बारे में है, वहीं विदेशी भाषाओं के बारे में सही है। गोवा के प्रो० मनोहर राव सरदेशाई ने फ्रेंच साहित्य में भारतीय प्रभाव पर शोध कार्य किया है; जर्मनी और रूस और इटली में ऐसी शोधें हो रही हैं; अमरीका में रवीन्द्रनाथ और विवेकानन्द पर काफी सामग्री है। इसी तरह बहुत-कुछ शोध करना शेष है ? कितने कम लोग डोरोजियो या धनगोपाल मुखरजी के बारे में जानते हैं ? वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और हरदयाल जैसे क्रांतिकारियों के बारे में अभी सामग्री पूरी तरह नहीं मिली है। भारतीय साहित्य का अध्ययन-अध्यापन अब विदेशों में भी होने लगा है—लेनिनग्राड और कैलीफोर्निया में, रोम में और फ्रांकफुर्ट में। इसलिए इस सबका प्रमाणित लेखा-जोखा किसी संस्था को जमा करना चाहिए।

मेरा विश्वास है कि संगोष्ठी के लिए चुना गया विषय ''साहित्य पर बाह्य प्रभाव : भारतीय साहित्य के विशेष संदर्भ में'' बहुत महत्त्वपूर्ण है, विशेष रूप से हमारे इस युग में जबकि साहित्य भाषा द्वारा आरोपित स्थानीय संवेदना के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख हो रहा है; क्योंकि सर्जनात्मकता-संपन्न सभी व्यक्तियों को मृत्यु, प्रेम, भूख, घृणा और व्यक्तिगत मित्रता जैसे सामान्य मूल्यों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार सिमिटते हुए इस छोटे विश्व में भारतीय लेखक विश्व के रंगमंच पर पहुँच रहे हैं। मशीन के इस युग ने कुछ तकनीकी प्रगतियों के लिए हमें बाध्य किया है जैसे कि लम्बे वाक्यों की जगह छोटे वाक्यों का प्रयोग होने लगा है और गद्य की अभिव्यक्ति में सहायता देने के लिए संकेत सीधे अर्थ के साथ जुड़ने लगे हैं। असल में प्रभावों को अपनाये बिना संभावना यह है कि हमारे प्रादेशिक साहित्य अपने में सीमित, कंकालमात्र और निस्सार होकर रह जाएँगे।''